साक्षात्कार

अंक : 378 जून 2011

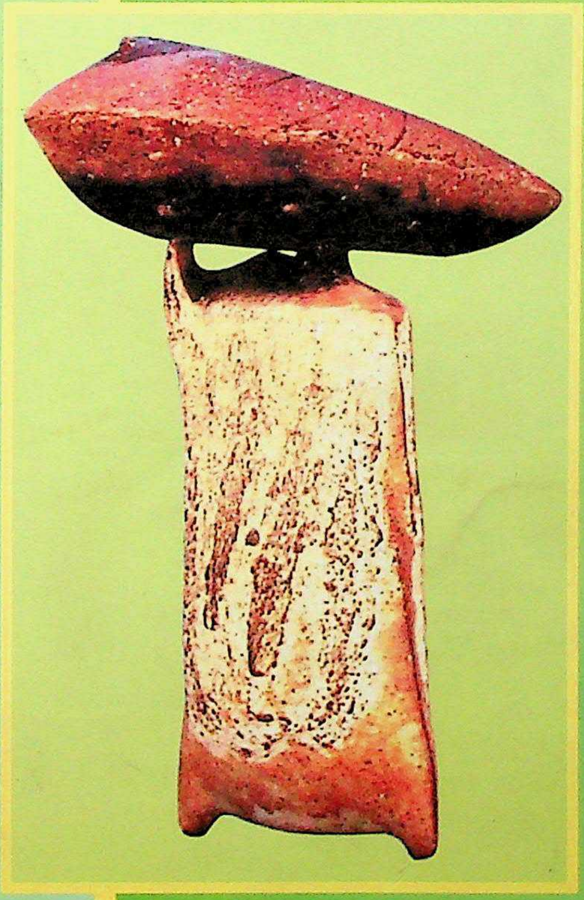

नये प्रकाशन

साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल

मजलिसे इक़बाल (भाग-11) **प्रधान संपादक देवेन्द्र दीपक, संपादक झम्मूं छुगाणी**	100.00
कुछ बात है **प्रधान संपादक देवेन्द्र दीपक, संपादक झम्मूं छुगाणी**	निःशुल्क
मजलिसे इक़बाल (भाग-12) **प्रधान संपादक देवेन्द्र दीपक, संपादक झम्मूं छुगाणी**	100.00
क़लम दस्ता **प्रधान संपादक देवेन्द्र दीपक, संपादक झम्मूं छुगाणी, सहायक संपादक बद्र वास्ती**	निःशुल्क
निमाड़ी साहित्य का इतिहास **श्रीराम परिहार**	100.00
मालवी साहित्य का इतिहास **श्यामसुंदर निगम**	150.00

साक्षात्कार के विशेषांक

डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. रामविलास शर्मा, आपातकाल (जून-जुलाई 05, जून-अगस्त 06, जून-जुलाई 09) प्रवासी भारतीय हिन्दी लेखन प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कश्मीर विस्थापन तथा नरेश मेहता पर केन्द्रित विशेषांक

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

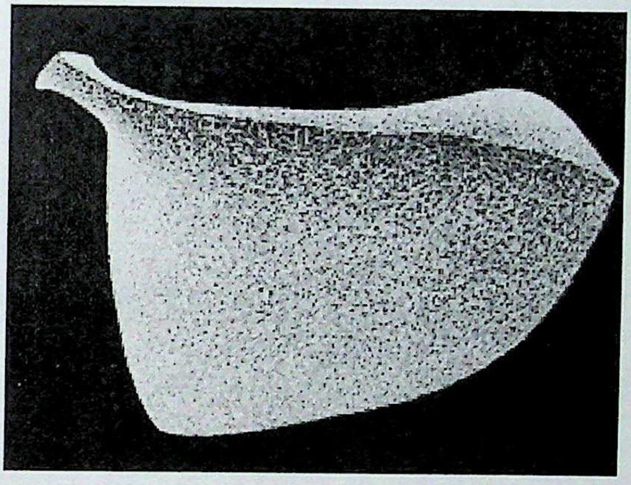

G.M. College of Education
Raipur, Pantalab
Jammu
Acc No. 37977
Dated 7-12-2023

प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल
संपादक

आनन्द सिन्हा
संपादन सहयोग

साक्षात्कार

जून-2011

378

संपादकीय एवं ग्राहकीय पत्र-व्यवहार : निदेशक/संपादक, साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद, संस्कृति भवन, बाणगंगा, भोपाल-3

फ़ोन : 2554782, 2760486 (कार्यालय), फैक्स : 2557942

संपादक/निदेशक : 9425044685 (मो.)

e-mail : sahityaacademy.bhopal@gmail.com

वार्षिक सदस्यता शुल्क

व्यक्तिगत ग्राहकों के लिए	:	₹ 250
संस्थाओं के लिए	:	₹ 300
आजीवन	:	₹ 3,000

यह अंक : ₹ 25

ग्राहकों से अनुरोध है कि काग़ज़, मुद्रण एवं प्रेषण की दरों में वृद्धि होने के कारण आजीवन ग्राहकों की राशि में जुलाई 2011 से वृद्धि की जा रही है।

समस्त चेक / बैंक ड्रॉफ्ट / मनीआर्डर '**निदेशक, साहित्य अकादमी, भोपाल**' के नाम स्वीकार्य होंगे।

संपादन सहयोग : रामनिवास झा, श्रवण कुमार शर्मा, महेश प्रसाद सिंह

प्रूफरीडिंग : अजय कुमार सूर्यवंशी

शब्दांकन : राकेश सिंह

मुद्रण : मध्यप्रदेश माध्यम, अरेरा हिल्स, भोपाल

आवरण एवं रेखांकन : शैलेन्द्र कुमार

शैलेन्द्र स्वाभाविक कलाकार हैं, उनके पारिवारिक संस्कार, शैक्षणिक योग्यता के साथ मिलकर सौंदर्य सृष्टि का आधार बनते हैं। उनके यहाँ माध्यम मिट्टी हो मेटल बदलते हुए समय में उनके स्वतंत्र चित्त को प्रकट करते हैं। कला कृतियों में स्वायत्तता, जीवन जगत और आसपास को समाहित कर प्रस्तुत होती है। उनकी कृतियों में आयतन अपने भौतिक स्वरूप के साथ आत्मनिर्भर लगता है। सृजनात्मक उर्जा का आधार कविता का सहारा लेकर आगे बढ़ता है।

संपर्क : 4/27, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल
मो. 09826737836

'साक्षात्कार' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार अपने हैं। संपादक या साहित्य अकादमी का उनके विचार के प्रति सहमत होना आवश्यक नहीं है।

साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद का मासिक प्रकाशन

अनुक्रम

संपादकीय / 5

हमारा समय और साहित्य

बातचीत / 9

डॉ. रमा सिंह से डॉ. अमिता दुबे

कविता / 16

डॉ. रमा सिंह

लेख / 19

प्रो. सदानंद प्रसाद गुप्त, डॉ. नंदलाल मेहता 'वागीश', डॉ. राज कुमार उपाध्याय

कहानी / 37

निशान्त, सुरेन्द्र अंचल, प्रशांत प्रिय, प्रमोद भार्गव, उषा जायसवाल

कविता / 61

कुँवर रवीन्द्र, मोहन सगोरिया, सत्य प्रकाश सक्सेना

आलेख / 68

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, डॉ. बी.एल.आच्छा

भाषांतर / 80

राजकमल चौधरी

गीत/ग़ज़ल / 89

अनूप अशेष, प्रदीप कांत

डायरी / 94

डॉ. रमानाथ त्रिपाठी

नई क़लम / 98

नेहा द्विवेदी

समीक्षा / 100

मिथिलेश्वर उपन्यास 'पानी बीच मीन पियासी' पर डॉ. रामविनय शर्मा

श्री नरेन्द्र दीपक का गीत संग्रह 'और सोच में तुम' पर सुरेश गौतम

पाठक मंच / 111

चुटकी-चुटकी चाँदनी : चन्द्रसेन विराट

चिट्ठी / 117

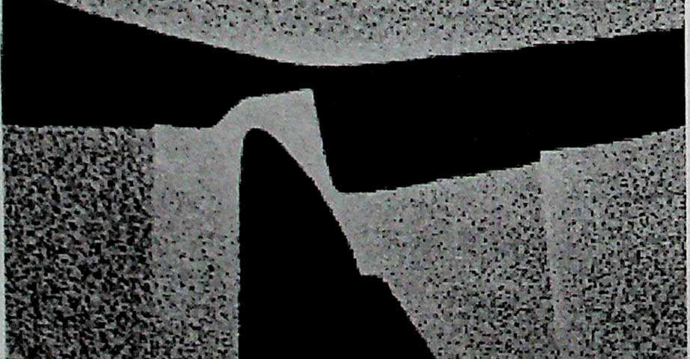

संपादकीय

हमारा समय और साहित्य

हम प्राय: समय को कोसते हैं। यह हमारा स्वभाव बन गया। इससे हम अपने को बचाते हैं। यदि हमारी प्रवृत्ति अपने को कोसने की हो जाए तो शायद हम समय को कोसना कम अथवा बंद कर सकते हैं। यह हमारी दुर्बलता है कि हम अपना आत्मालोचन कर ही नहीं पाते। यही नहीं यदि कोई अपना शुभचिंतक हमें श्रेय के मार्ग पर ले जाने के लिए आगाह करने की दृष्टि से कुछ कहता भी है, तो हम झट से बुरा मान लेते हैं। आप इस बात पर ध्यान से विचार कीजिए कि यदि आपका कोई पारिवारिक मित्र आपके लड़के अथवा लड़की की किसी दिशाहीनता के प्रति आपको आगाह करता है, तो आप उसी पर अविश्वास करते हुए कह बैठते हैं कि 'हमारा लड़का ऐसा हो नहीं सकता।' मेरा लड़का है, 'मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ।' वैसे तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं लगती। कारण कि यदि धृतराष्ट्र इस सत्य को पहचान लेते और पुत्रमोह से उबर जाते, तो शायद महाभारत जैसी घटना ही नहीं घटती। यह है बड़ा कठिन, किंतु असंभव नहीं।

जहाँ तक समय की बात है, वह न तो बौना होता है और न ही पंगु। यही नहीं वह न तो अच्छा होता है, और न ही बुरा। फिर भी लोगों से हम प्राय: यह कहते हुए सुनते हैं कि 'समय अच्छा नहीं चल रहा है।' घर के बाहर पढ़ने अथवा काम पर जाने वाली लड़कियों को प्राय: उनकी माताएँ यह कहती हुई सुनी जाती हैं कि बेटी वक्त पर घर आ जाना, आजकल समय ठीक नहीं चल रहा है। यहाँ समय से तात्पर्य उनका आजकल के दूषित वातावरण से है। आखिर यह समय है क्या? क्यों हर युग का व्यक्ति कोसता रहता है? समय तो एक अनंत प्रवाह है। यह अखंड है। अपरिमित है। सीमातीत है। किसी भी प्राकृतिक और अप्राकृतिक घटना-क्रम से न प्रभावित होने वाला है। समय निरपेक्ष होता है।

लोग यह भी कहते हुए सुने जाते हैं कि 'आज हमारा समय बुरा चल रहा है, इसलिए आप चाहे जो कहें।' यहाँ ऐसा कहे जाने का अर्थ कहने वाले के किसी किए गए बुरे काम के बुरे परिणाम के अवसर का होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका उस अखंड समय से कुछ ख़ास संबंध है नहीं। कुछ ऐसा भी कहते सुना जाता है कि 'जब मेरा अच्छा समय आ जाएगा

तो सब ठीक हो जाएगा।' यहाँ ऐसे लोगों के कथन का आशय अच्छे दिन के आने की आश्वस्ति-भाव से है, जो मनुष्य की सहजात वृत्ति है और उसे अपने समय में बने रहने का एक सोचगत आधार भी।

हमारे यहाँ समय को काल भी कहा गया है। भवभूति ने काल को निरवधि और पृथिवी को विपुला कहा है— 'कालोह्ययं निरवधि: विपुला च पृथिवी'। काल सर्व संबंधातीत है। इसीलिए न तो वह किसी का है और न कोई उसका। विपत्ति उसकी शिराएँ हैं। जागतिक जीवों कर्म उसका पौरुष है। मनुष्यों का पुण्य-पाप उसके कर्ण हैं। निंदा स्तुतियाँ उसके उदर हैं। ध्यान और तप उसकी जंघाएँ हैं। परोपकार उसकी पादांगुलियाँ। हत्या, अपकर्म उसके घ्राण हैं। यग-याज्ञ उसकी आँखें हैं। यही काल पुरुष कभी शिव बनता है और कभी शंकर। कभी आशुतोष बनता है और कभी पिनाकी। कभी उमापति बनता है, और कभी तत्पुरुष। वह भाँति-भाँति अपने सतनामों से प्रतिभाषित होकर महाकाल बनता है। तब तुलसी को कहना पड़ता है— 'जपहुँ जाइ शंकर सतनामा'। भारतीय मान से हमारे मानव इतिहास का कालचक्र दो अरब वर्षों का है। यह श्वेतवाराह कल्प से आरंभ होता है। भारतीय परंपरा में कल्प का कालमान निश्चित है। इसका मूल है— वेद। 'कालौ हि परमेश्वर:' (अनु. 148/39)। काल की व्याख्या करते हुए महाभारतकार ने लिखा है—

आवर्तमानमजरं विवर्तनं षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्वं।
यस्येदमास्ये परियाति विश्व तत् कालचक्रं निहितं गुहायाम्।

— शान्ति 0245/32,

अर्थात् जो सदा घूमता रहता है। कभी जीर्ण शीर्ण नष्ट नहीं होता। जो सभी प्राणियों की आयु नष्ट करता है। छह ऋतुएँ जिसकी नाभि है, बारह महीने जिसकी अरे हैं और दर्श पौणमास आदि यज्ञ जिसके सुंदर पर्व (पौर) है। यह सारा संसार जिसके मुख में चला जा रहा है वह कालचक्र बुद्धिरूपी गुफा में निहित है। अब थोड़ी सी चर्चा हमारे अपने उस समय अथवा कालखंड की होनी चाहिए, जिसमें हम जी रहे हैं। इस समय को भी जनता कोस रही है।

आज महसूस किया जा रहा है चाहे कार्यपालिका हो, चाहे विधायिका, न्यायपालिका और खबरपालिका हो। ये चारों स्तंभ पंकिल हो चले हैं। कुछ समाज के अग्रणी इस पंकिल से कमल खिलाने के प्रयास में हैं, किंतु कमल खिल पाएगा कि नहीं, यह तो समय बताएगा। किंतु आज का आम आदमी बहुत त्रस्त है। घूम-फिर कर सारा बोझ उसी के कंधे पर आ पड़ा है। आज गाँधी होते तो उनकी प्रार्थना होती कि— 'सबको सन्मति दे भगवान'। हम भारतीय गहरे संकट के क्षणों में सब कुछ भगवान पर छोड़कर कुछ अच्छा होने की प्रत्याशा में जीते हैं। यह अच्छा हो जाने की आशा ही हमारी जीवनी शक्ति है। यही इस देश को बचाए हुए है। तमाम काला धन विदेशों में जमा है और भ्रष्टाचार के शीर्ष पर पहुँचने के बावजूद भी हमारा आर्थिक ढाँचा पश्चिमी देशों की तुलना में दृढ़ ही नहीं अपितु एक उदाहरण बना हुआ है। कहना न होगा कि 'शिष्टाचार' और 'भ्रष्टाचार' इतिहास चक्र की तरह घूमते रहते हैं। अत: हमें इस बात से निराश और हताश होने की आवश्यकता नहीं है कि भ्रष्टाचार के दानव का अंत नहीं होगा। अवश्य होगा। इधर कुछ सज्जन शक्तियों का उदय हो चला है, जो इस महामृत्युंजयी देश को विश्वगुरु की पुन: प्रतिष्ठा दिलाने में दृढ़ परिकर हैं। यह इस भूमि की विशेषता है कि जब किसी भी पक्ष का अतिवाद होता है, तो उसका शमन भी होता है। अब प्रश्न उठता है कि ऐसे समय में साहित्य की क्या भूमिका होनी चाहिए? जहाँ तक साहित्य की भूमिका का प्रश्न है, वह सदैव से अपनी भूमिका का निर्वाह करता आ रहा है, परंतु समय की विद्रूपताएँ उसमें भी घर कर गई है।

आज समय आ गया है कि समाज को विद्रूपताओं का बघार लगाने वाले साहित्य की कलई छूटनी चाहिए। मेरा आशय उस वामपंथी साहित्य की ओर है, जिसने हमारे साहित्य और संस्कृति के पूरे ताने बाने को तोड़ने का संकल्प ले रखा है। ऐसे साहित्यकारों को सत्ता का आश्रय मिलता रहा है, किंतु अब बंगाल से भी लाल रंग के गायब हो जाने से वे वैसे बिलबिला पड़े हैं जैसे— भीषण गर्मी और वर्षा से व्याकुल होकर सर्प अपने बिलों से बाहर भागने लगते हैं।

आज के समय में ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे सिद्ध सनातन किंतु मार्गदर्शी तत्त्वों को उजागर करने वाला हो। जो आस्थावादी रूपों से समन्वित हो।, जो मनुष्य और राष्ट्र को जोड़ने तथा प्रेरित करने वाला हो। जो श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, सौहार्द, मनुष्यता और विश्वबंधुत्व की दीप्ति से युक्त हो।

आज तंत्र पागल हाथी की तरह हो गया है। सत्य की लड़ाई लड़ने वालों को कुचला जा रहा है। सज्जनों पर अपशब्दों की वर्षा हो रही है। ऐसे तंत्र को याद होना चाहिए कि अभी इस देश में चाणक्यों की परम्परा ज़िंदा है। जिससे नंद वंश का अंत सुनिश्चित होगा। इसके लिए सबसे बड़ा हथियार हमारा साहित्य है। हमारी परंपरा शस्त्र और शास्त्र की रही है न कि दैन्य एवं पलायन की।

आज मनुष्य के चिंतन के केंद्र में 'अर्थ' है। क्रिकेट, सिनेमा और शेयर बाज़ार की धूम है। भाव उठते हैं, गिरते हैं। मनुष्य इसी भाव के उठने और गिरने को सहेजने में लगा है। उसे इस बात की चिंता नहीं है कि वह जिस विषय (अर्थ) की अधिक चिंता कर रहा है, वह उसे न तो सोने देता है और न खाने। वह यह सब जिस पीढ़ी के लिए कर रहा है, वह पीढ़ी भी संस्कार और मूल्यों की दृष्टि से दरिद्र होने के कारण उसे कोसेगी।

जहाँ तक साहित्य और साहित्यकार का पक्ष है, वह भी पुरस्कारों को कबाड़ने की जुगत में लगा है। आज हमारे मूल स्रोत से कटे हुए साहित्य का सृजन हो रहा है। यहाँ विचारणीय है कि स्रोत से कटा हुआ साहित्य क्षणजीवी होगा, कालातीत और कालजयी नहीं। पश्चिमी वादों एवं विमर्शों को आदर्श अथवा मानक बनाकर आज लिखा जा रहा साहित्य समाज को तोड़ने वाला है, न की जोड़ने वाला। जिस लेखन में अधिक अपशब्दों का प्रयोग, मूल्यों का भंजन, भारतीयता का मान मर्दन होगा, वह लेखन आज प्रगतिवादी, आधुनिक, समकालीन, नया और जोरदार माना जाता है। अरे भाई, अगर तुम्हारे साहित्य में तुम्हारा अपना देश नहीं है, तुम्हारी अपनी संस्कृति नहीं है, तुम्हारी अपनी जातीय-परंपरा नहीं है, तुम्हारा अपना परिवार नहीं है, तुम्हारा अभंग इतिहास, भूगोल और समाज नहीं है, तो वह साहित्य कैसे होगा? उसे तुम कहाँ से और कैसे समकालीन और अग्रगामी साहित्य कहते हो? अभी मेरे पास राजस्थान के एक सज्जन हसन जमाल का पोस्टकार्ड आया। उसमें उन्होंने लिखा है—

प्रिय महोदय,

फरवरी-मार्च 2011 के साक्षात्कार मिले। एक ज़माना था जब साक्षात्कार पठनीय हुआ करता था। शानी, प्रभाकर श्रोत्रिय, सोमदत्त तथा भगवत रावत के कार्यकाल में साक्षात्कार का रंग-रूप ही कुछ और था। जब से इस पर भगवा रंग फिरा है, यह दक्षिणपंथी हो गया है। इसमें अधुनातन लोप है।

आशा है, इसे आप समकालीनता से जोड़ेंगे। जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरी प्रतिक्रिया भी साक्षात्कार में नहीं दी जाती थी। इस प्रवृत्ति को मैं मुस्लिम

विद्वेष मान सकता हूँ। फिलहाल साक्षात्कार मेरी दृष्टि में पिछड़ी हुई पत्रिका है। या तो आप लोगों के पास दृष्टि नहीं है या आप अपने लोगों को उपकृत करना ही पर्याप्त समझते हैं। एक आपके यहाँ हरि भटनागर हुआ करते थे। जाने वो आजकल क्या कर रहे हैं? वो भी बड़े तीसमार खाँ थे।

आशा है पूर्व की तरह यह पत्र भी रद्दी की टोकरी की शोभा बढ़ाएगा। निंदक नियरे राखिए पर शायद आप विश्वास नहीं रखते। एक बार ज्ञानरंजन जी ने मुझे कहा था कि साक्षात्कार में छपना ही अपने आपमें एक अपराध है। जिस प्रकार हमारे प्रदेश की अकादमी पत्रिका मधुमती धन का अपव्यय है वैसे ही साक्षात्कार भी।

हसन जी आपने विश्वास व्यक्त किया था कि आपका पत्र रद्दी की टोकरी में जाएगा, किंतु मैं इसे संपादकीय के गर्भ में दे रहा हूँ। अब आपसे यह सवाल है—

- आप कितने पढ़े लिखे हैं?
- आपने जिन लोगों का उल्लेख किया है, वे कितने पढ़े लिखे हैं?
- आप किस दृष्टि की बात कर रहे हैं?
- आपकी कितनी दृष्टि है? आपकी दृष्टि ने साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता को क्या दिया?
- आपके तथाकथित साहित्यिक पितृ पुरुषों ने आखिर साहित्य को भ्रष्ट करने के अलावा और ऐसा क्या दे दिया है, जिस पर समाज गर्व करे।
- आपको साहित्य में भगवा रंग नज़र आ रहा है, क्या यही है आपकी दृष्टि, जिस दृष्टि की आपने बात की है, वह कौन सी गिद्ध-दृष्टि है?
- आपने जिस कालखंड के साक्षात्कार के रंग रूप की बात की है, वह रंग लाल था, अब भगवा है तो आपको पीड़ा क्यों?

आप जिस भगवा से पीड़ित हैं, उसका अर्थ इस 'भगवा' से सीख लें। यह ऐश्वर्य, तेज, आलोक, शौर्य, वैभव और विभुता का प्रतीक है। यह सनातनी, शाश्वतिक, भारतीय एवं मानवीय तेजस् और तप का प्रतीक है। मैं तो उस 'भगवान' से प्रार्थना करूँगा, जिसके नाम में भी 'भगवा' है कि 'वह पूरे विश्व को भगवामय कर दे।' विश्वास है कि इसके आलोक से विश्व में पुनः मनुष्य-जाति की प्रतिष्ठा हो सकेगी।

जिस व्यक्ति को पीलिया हो जाता है, उसे सब कुछ पीला ही दिखाई पड़ता है। ऐसे लोगों को बड़ी सावधानी पूर्वक अपना इलाज करना चाहिए, नहीं तो मामला लीवर का है, जीवन समाप्त होने का खतरा है। वैसे अब तो आपके लाल रंग का जीवन बंगाल से भी समाप्त है। केवल शेष है तो— 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे।' फिर भी अगर आपके कुछ सवाल बाकी हों तो मैं आपको और आपके लोगों को साहित्य और उसकी दृष्टि पर शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारता हूँ।

प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल
संपादक

डॉ. रमा सिंह से डॉ. अमिता दुबे

काव्य सृजन की प्रमुख हस्ताक्षर शैक्षणिक कार्यक्रमों के माध्यम से हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं उत्थान के प्रति समर्पित डॉ. रमा सिंह का जन्म 27 मई, 1927 को हरदोई (उ.प्र.) में हुआ। डॉ. रमा सिंह जुझारू व्यक्तित्व की स्वामिनी है। आपकी प्रारंभिक शिक्षा लखनऊ के प्रतिष्ठित महिला कॉलेज में सम्पन्न हुई। आपने हिन्दी के साथ-साथ राजनीति शास्त्र में भी परास्नातक की उपाधि प्राप्त की। आपका पी.एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत ग्रंथ 'हिन्दी सतसई साहित्य' आलोचना के कई प्रस्थान बिन्दुओं पर प्रकाश डालने वाला है। अध्ययन-अध्यापन में विशेष रूचि रखने वाली रमा जी उच्च शिक्षाविद् के रूप में विख्यात है। जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद को विभूषित करते हुए रमा जी ने वहीं से अवकाश प्राप्त किया।

आपकी रचनाएँ अनेक राष्ट्रीय संकलनों में प्रकाशित हुई हैं यथा-नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय कविताएँ, अज्ञेय द्वारा सम्पादित कविता संकलन 'रूपाम्बरा' डॉ. इन्द्रनाथ मदान द्वारा सम्पादित 'कविता और कविता व अभिव्यक्ति', साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित प्रतिनिधि कविताएँ, कमलेश्वर द्वारा सम्पादित 'संकेत', डॉ. धर्मवीर भारती द्वारा सम्पादित 'निकष नई कविता', में प्रकाशित 'कविताएँ और परिचर्चा' (सं.-जगदीश गुप्त), मुक्तक रुबाई (सं.-शेरजंग गर्ग), कुछ मुक्तक : कुछ ग़ज़ले (मुक्तक-भूपेन्द्र कुमार स्नेही)। इसके अतिरिक्त पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, राजस्थान यूनिवर्सिटी के पाठ्यक्रमों में अनेक कविताएँ संकलित हैं।

डॉ. रमा सिंह को साहित्यिक अवदान के लिए अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित भी किया गया है जिनमें प्रमुख हैं-उ.प्र. हिंदी संस्थान का साहित्य भूषण एवं अवंतीबाई सम्मान। साहित्य महोपाध्याय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन), सुचीन्द्र पुरस्कार (राजस्थान साहित्य अकादमी), वाग्मणि सम्मान (राजस्थान लेखिका संस्थान), सम्भावना सम्मान (संभावना जोधपुर) आदि।

विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्ति के पश्चात जीवन के आठवें दशक में भी डॉ. रमा सिंह पूर्ण सक्रियता के साथ साहित्य-सृजन में संलग्न हैं।

भाषाओं के साहित्य में समतामूलक तत्वों की पड़ताल

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! आपका विशेष अनुराग कविता से है। आप राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की सुप्रतिष्ठित कवयित्री हैं। यह बताइये कि आपने पहली कविता कब और कौन सी लिखी?

डॉ. रमा सिंह : अमिता! पहली कविता या कविता लिखने की शुरूआत तो वस्तुत: राष्ट्रीय आन्दोलन, यानि 1942 का स्वतंत्रता आन्दोलन भी कहा जा सकता है, के प्रभाव से हुई। उस समय मैं लखनऊ के महिला कॉलेज (अमीनाबाद) में छात्रा थी और छात्रावास में रहकर पढ़ाई कर रही थी। इस आन्दोलन में लखनऊ के छात्र-छात्राओं की बड़ी सक्रिय भागीदारी थी। इसी संदर्भ में मैंने प्रयाण गीत लिखे थे जैसे-

उठो चलो वीर बढ़ चलो धीरे/आँखों में जलती आग लिये।

एक और गीत है-

जागो हे काम दहन जागो!/भस्म करो शृंखला की कड़ियाँ/दे दो कुछ नया ओज जागो जागो...।

डॉ. अमिता दुबे : उस समय तो साहित्यकारों द्वारा प्रसिद्ध प्रयाण गीत लिखे गये जन-जागृति उत्पन्न करने के लिए गाये भी गये। उन प्रयाण गीतों के संबंध में भी कुछ बताइये।

डॉ. रमा सिंह : उस समय हम विद्यार्थी राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कविता रचने वाले कवियों जैसे-मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', दादा माखनलाल चतुर्वेदी, जयशंकर प्रसाद जी के गीतों को प्रयाण गीत के रूप में गाते थे। झण्डा लेकर, टोली बनाकर चलते थे। पूरा माहौल भारत माँ को स्वतंत्र देखना चाहता था और यही लगन लिये हम लोग आगे बढ़ते रहे...फिर आजादी मिल गयी।

डॉ. अमिता दुबे : देश के आजाद होने पर क्या अनुभव किया?

डॉ. रमा सिंह : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शुरू में तो बहुत उत्साह आया। बहुत दिनों तो बहुत खुशी लगती रही और विजय गीत लिखने का मानस बना। पहले की यादें संस्मरण गीत के रूप में सामने आयीं। एक संस्मरण गीत है-

समय के पत्थरों पर लिख दिये जय गान/हमने लिख दिये जय गान।

इसी तरह एक और संस्मरण कविता मैंने लिखी 'स्वतंत्रता : एक शब्द'। आप इसे 'फ्लैश बैक' कविता भी कह सकती है।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! इस 'फ्लैश बैक' कविता के कुछ अंश सुनाइये-

डॉ. रमा सिंह : यह 'फ्लैश बैक' शैली में लिखी कविता है-

एक कक्षा से निकली दूसरी कक्षा में जाते हुए/हमें एक शब्द बहुत भाया था/वह था स्वतंत्रता!/क्योंकि सारा परिवेश था/स्वतंत्रता-संघर्ष का.../आजादी की लड़ाई का।

यह लम्बी कविता है। इसकी अंतिम पंक्तियां यों हैं-

यह शब्द-सूर्य का आगमन/बनकर सारे आकाश में छा गया.../यह 'शब्द...' हमारे राष्ट्र की/अस्मिता का अर्थ बनकर/इतिहास के पृष्ठों को/जगमगा गया।

इसी शब्द ने-

हमें दिया नया सवेरा/और निर्माण का नया विहान।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! पहले आपने प्रयाण गीत लिखे, फिर संस्मरणात्मक गीत लिखे और फिर फ्लैश बैक शैली में कविता। समय बीतने के साथ-साथ इस आजाद देश की व्यवस्था में आपको कैसा अनुभव हुआ?

डॉ. रमा सिंह : अमिता! फिर एक मोड़ आया। मन में कुछ अवसाद सा भी था जिसके साथ कुछ सावधान रहने की बात भी मन में आयी। तब एक कविता लिखी- 'मोड़'। जिसे डॉ. धर्मवीर भारती ने अपनी पत्रिका 'निकष' में प्रकाशित किया। इसी कविता को रूसी भाषा में श्री गोपी कृष्ण 'गोपेश जी' ने रूपांतरित किया जो किसी शैक्षिक कार्य से रूस गये थे। वहाँ उन्होंने इस कविता के रूपान्तरण को प्रकाशित भी करवाया था। क्या बतायें अमिता जी! उस समय रूस और भारत की मैत्री ऐसी थी कि भारत की हर करवट को वहाँ बड़े चाव से बुद्धिजीवियों द्वारा समझा जाता था। इसी क्रम में यह कविता भी वहाँ बहुत सराही गयी। इस कविता में भारतीय मानस के साथ-साथ अपने हृदय को सावधान रहने की चेतावनी देने का प्रयास मैंने किया था...।

डॉ. अमिता दुबे : कुछ पंक्तियाँ इस कविता की भी सुनाइये।

डॉ. रमा सिंह : यह कविता प्रतीकात्मक कविता है-

बहुत ही मोड़ पैना है/जरा रफ्तार को धीमी करो/ तब मोड़ना गाड़ी/उलटो यहाँ/सब लोग तुमको व्यर्थ में कह दें अनाड़ी।

इसी से-

ज़रा देखो/कहाँ खंदक/कहाँ पर्वत/कहाँ खाड़ी?

डॉ. अमिता दुबे : आपने 'गाड़ी के मोड़' से 'देश के मोड़' को जोड़ा है। कविता में बिम्ब के अनेक प्रयोग होते रहते हैं इस दिशा में आपकी कविताएँ एक मानक स्थापित करती हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के कुछ वर्षों में भारत और रूस की साहित्यिक मैत्री में लखनऊ की 'इसकस' संस्था का क्या योगदान था?

डॉ. रमा सिंह : भई! बहुत पुरानी याद दिला दी तुमने। उस समय 'इसकस' यानि इण्डो सोवियत कल्चरल सोसायटी के तत्त्वावधान में अनेक रूसी विद्वान आते रहते थे। इस संस्था की मैं सक्रिय सदस्य थी और इसकी गोष्ठियाँ मेरे आवास पर भी होती थी। लखनऊ के मॉडल हाउस में श्री पुष्कर नाथ भट्ट, जो कि इस संस्था के 'प्रेसीडेंट' थे के आवास पर हुई गोष्ठियों की स्मृति आज भी रोमांचित करती हैं। बहुत आकर्षक और उर्वर वातावरण था। इसमें रूस के सांस्कृतिक प्रभारी श्री सेराब्रया कॉफ सहित अनेक नामी-गिरामी साहित्यकार, रंगकर्मी, सांस्कृतिक प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे। अमृतलाल नागर जी, यशपाल जी, डॉ. देवराज, श्रीकृष्ण नारायण कक्कड़ इत्यादि इसमें सम्मिलित थे।

('इसकस' से जुड़े पुराने साथियों को याद करते हुए डॉ. रमा सिंह भावविभोर थीं। उनकी आँख नम हो आयी थी गला साफकर उन्होंने आगे कहा-) 'इसकस' संस्था भारत रूप मैत्री की जीवंत पहचान थी जिसने इन दोनों देशों की सांस्कृतिक विरासत को साहित्य के माध्यम से सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! अपने समकालीन अन्य साहित्यकारों के संबंध में भी कुछ बताइये जिनकी काव्य प्रतिभा से आप प्रभावित हुई हों।

डॉ. रमा सिंह : समकालीन में मेरे वरिष्ठ साहित्यकार और मेरे साथी सभी लेखक और लेखिकाएँ आते हैं। जाहिर है अपने वरिष्ठ साहित्यकारों ने मुझे लिखने की प्रेरणा दी और साथी संगियों ने उत्साह बढ़ाया। कभी मेरी रचनाएँ सुनकर कभी अपनी सुनाकर उन सभी ने रचनाकर्म की राह को गति दी।

वरिष्ठ लेखकों की एक पूरी यशस्वी पीढ़ी का स्नेह मुझे मिला इनमें पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी 'भइया साहब', महादेवी वर्मा जी, सुमित्रानंदन पंत, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल जी, अमृतलाल नागर ने हमेशा लिखते रहने का संदेश तो दिया ही साथ ही मेरी हित चिंता भी करते रहे। यह स्नेह मेरे लिए पाथेय बन गया। अभी भी हर वर्ष इनकी जयंती मनाने में मेरी भागीदारी बराबर रहती है। ये जयंती पर्व मुझे अनुष्ठान जैसे प्रतीत होते हैं। उस दिन इनके भव्य लेखन को तो अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती ही हूँ साथ ही उनकी स्मृति को अश्रु-

अंजलि भी सहज रूप में अर्पित हो जाती है... अनायास।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! आज के साहित्यकारों के सामने अपनी पूर्व पीढ़ी को याद करना आपको कैसा लगता है?

डॉ. रमा सिंह : अमिता जी! कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता है कि हिन्दी साहित्य की रचनाधर्मिता का एक पूरा इतिहास मेरी स्मृति-मंजूषा में समाया हुआ है। खण्डवा में आदरणीय दादा माखनलाल चतुर्वेदी ने जब मेरी कुछ पंक्तियों को सुना और सराहा तो मुझे जो अनुभूति हुई-वह शब्दातीत है। राँची आकाशवाणी केन्द्र पर जब रचना-पाठ करने गयी तो वहाँ श्री कर्तार सिंह जी दुग्गल केन्द्र निदेशक थे, उनके पूरे परिवार के साथ जुड़कर बेहद अच्छा लगता रहा। दूरदर्शन केन्द्र, दिल्ली से एक कवि सम्मेलन प्रसारित हुआ था जो 'रिकार्डिड' नहीं था प्रसारण साथ-साथ (सजीव) हो रहा था, उसके अध्यक्ष थे डॉ. हरिवंशराय बच्चन जी और संचालन कर रहे थे प्रसिद्ध गीतकार वीरेन्द्र मिश्र जी। मंच पर हिन्दी काव्य जगत की अनेक हस्तियाँ और नवोदित और उदित कवि व कवयित्रियाँ मौजूद थे... हिन्दी कविता के बहुविध आयाम इन काव्य प्रस्तुतियों में उद्घाटित हुए-कहीं सस्वर कण्ठ के गीत, कहीं मुक्त छंद की कविता, कहीं ओजस्वी स्वर...। क्या कहें बेहद विविध रंग थे कविता पाठ के... आज भी वे स्वर मन को झंकृत करते हैं...।

डॉ. अमिता दुबे : आपने अनेक रिपोतार्ज, संस्मरण, कहानियाँ आदि विधा में भी लेखन किया है। आपके आलोचनात्मक लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। क्या गद्य विधा में भी लेखन आपके लिए काव्य की भाँति प्रवहमान है?

डॉ. रमा सिंह : हर लेखक के लिए विधा कोई प्रतिबद्धता नहीं है। कोई खास विधा उसकी पहचान जैसी बन जाती है। मैंने साहित्य के यशस्वी लेखकों के संस्मरण लिखे जिन्हें मैंने निकट से जाना और जो स्वयं अपनी रचनाएँ सुनाते थे। दिनकर जी ने एक बार रश्मिरथी की पंक्तियाँ सुनायीं तो मन पूरी तरह भावप्रवणता में डूब गया...इस पर दिनकर जी ने स्वयं बताया कि रमा! जब मेरा कर्ण मरा तो मैं कमरे में अकेला रोता रहा-न प्यास लगी न भूख। इन सब साहित्यकारों ने कविता को बहुत समृद्धि दी, साथ ही गद्य लेखन भी किया चिंतन परक और शोधपरक। मेरे ये अग्रज मेरी रचना यात्रा के प्रेरक प्रसंग हैं।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! अपनी साहित्यिक बिरादरी के विषय में भी कुछ हमें बताइये।

डॉ. रमा सिंह : मेरी साहित्यिक बिरादरी की विस्तार परिधि बहुत बड़ी है। मेरी राय है कि बिना साहित्यिक बिरादरी का अंग बने, रचना कर्म चलना कठिन है। साहित्यिक चर्चा में जिन रचनाधर्मियों का साथ मिला उनमें डॉ. चित्रा मुद्‌गल, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, मन्नू भण्डारी, राजी सेठ, मेहरून्निसा परवेज जैसी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व हैं। मेरा सम्पर्क बराबर बना रहा है-डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. दूधनाथ सिंह, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. देवेन्द्र दीपक, रमेश दवे आदि से। एक अत्यन्त निजी साहित्यिक परिवार में रहकर अपने को सुरक्षित सा महसूस करती हूँ। यह पारिवारिक स्नेह हमेशा से मेरा सम्बल रहा है...नामवर जी और अज्ञेय जी जोधपुर विश्वविद्यालय में थे...उनसे शैक्षिक और सामयिक साहित्य पर चर्चा के अवसर रोज़ ही निकल आते थे।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! आपकी साहित्यिक बिरादरी में कुछ गीतकार, गजलकार भी रहे होंगे।

डॉ. रमा सिंह : स्मृति-कोष में जब भी झाँकती हूँ तो याद आती है गीतकार सुरेन्द्र तिवारी, गजल के अप्रतिम हस्ताक्षर दुष्यन्त कुमार, कहानी के शिखर-बिन्दु कमलेश्वर जी...। ये लोग जब भी लखनऊ आते... तो इनके साथ साहित्यिक चर्चा भी होती और साहित्यिक लतीफों की झड़ी भी लग जाती.... लखनऊ के अल्पना होटल (लालबाग) में ये ठहरे होते। देसी सेठ किताबों की बिक्री के संबंध में मेरे पास महिला कॉलेज आते... लालबाग से गिरिजाकुमार माथुर जी के पास जाना एक

जरूरी शर्त थी, जो अपनी और शकुंत जी आतिथ्य भावना से सभी साहित्यकारों को समेटने में हमेशा तत्पर रहते थे...।

डॉ. अमिता दुबे : राष्ट्रीय स्तर पर अनेक साहित्यिक कार्यक्रमों में आपको वक्ता, मुख्य अतिथि, विशिष्ट अतिथि, अध्यक्ष के रूप में आमंत्रित किया जाता रहता है। कोई अविस्मरणीय घटना बताइये।

डॉ. रमा सिंह : राष्ट्रीय स्तर पर जुड़ना तो राष्ट्रभाषा हिन्दी की लोकप्रियता और व्यापकता के कारण रहा। मैं जब जोधपुर विश्वविद्यालय में थी तो विभाग में भी राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठियाँ सम्पन्न होती थीं-बहुत से लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार और हिन्दी के नामी-गिरामी प्राचार्य मेरे आवास पर ही ठहरते थे-आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, डॉ. भगीरथ मिश्र, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. नरेन्द्र आदि की भागीदारी अपने आप में एक उपलब्धि थी। मंच पर या श्रोता के रूप में मैं बराबर उपस्थित रहती। इसके अलावा अनेक राष्ट्रीय कार्यक्रमों में विस्तार व्याख्यान माला अथवा एक वक्ता के रूप में जाने का अवसर मिला। जबलपुर में सुभद्रा स्मृति समारोह सम्पन्न हुआ वहाँ जाकर सुभद्रा जी के व्यक्तित्व के कई पक्षों का अंतरंग परिचय मिला। आदरणीय मैथिलीशरण गुप्त जी की जन्म शताब्दी मनाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कई समारोह हुए-कोटा के चंबल सभागार में डॉ. जगदीश गुप्त जी आये थे। राजस्थान के प्रखर वक्ता डॉ. प्रकाश आतुर ने राजस्थान साहित्य अकादमी के तत्त्वावधान में यह समारोह आयोजित कराया था। डॉ. दया कृष्ण विजय, कुमार शिव, राकेश जी आदि की भागीदारी भी थी कोटा के रचनाधर्मी वहाँ थे-इस साहित्यिक बिरादरी में दद्दा यानि मैथिलीशरण गुप्त जी के कृतित्व पर विशद् चर्चा हुई थी। उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ और इलाहाबाद की साहित्यिक संस्था हिन्दुस्तानी एकेडमी तथा उत्तरप्रदेश भाषा संस्थान लखनऊ में भी गुप्त जी पर समय-समय पर चर्चा गोष्ठियाँ हुई। वक्ता के रूप में मेरी पूरी भागीदारी थी। इन समारोहों के कारण होता यह है कि बार-बार इनकी रचनाओं पुनर्पाठ का अवसर मिल जाता है-नयी दृष्टि भी मिलती है, नये बिम्ब, कथ्य को नयी भंगिमा के साथ-साथ कथ्य के नये अर्थ खुलते हैं।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! आपने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी हिन्दी के अनेक कार्यक्रमों में सहभागिता की है। आज राष्ट्रभाषा का जो वैश्विक स्वरूप हमारे सामने है उसकी पदचाप आपके कानों में आज भी गूंजती होगी?

डॉ. रमा सिंह : जब लोग कहते थे-'रमा! तुमने हिंदी ले रखी है तुम्हारे हाथ में समुद्र रेखा भी नहीं है अंग्रेजी लेती तो विदेश यात्रा हो सकती थी।' तो मैं खुद भी कभी-कभी उदास हो जाती और सोचती चलो नेपाल हो आते हैं हो गयी विदेश यात्रा। लेकिन सन् 1975 के बाद विदेश यात्राओं का लम्बा सिलसिला चल पड़ा। हुआ यों कि सन् 1975 में नागपुर में विश्व हिंदी सम्मेलन सम्पन्न हुआ, जिसमें मुझे काव्य पाठ करने का अवसर मिला। काव्य पाठ समारोह के अध्यक्ष थे डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' और संचालन किया था बालकृष्ण वैरागी ने। यह सम्मेलन क्या था। लगता था जैसे पूरे विश्व का हिन्दी समाज यहाँ इक्ट्ठा हो गया है। भारत और पूरे विश्व के हिन्दी विद्वान रचनाकार, हिंदी प्रेमी और हिंदी के प्रचारक सभी के लिए ठहरने की बढ़िया व्यवस्था थी और कार्यक्रम स्थल पर इतना बड़ा पण्डाल था जो कम से कम मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यहाँ आकर प्रवासी और अप्रवासी भारतीयों के हिंदी प्रेम को मैंने विस्मय भरी आँखों से देखा।

इस सम्मेलन के बाद मॉरीशस में दूसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन 1976 में हुआ जिसका निमंत्रण मुझे जोधपुर विश्वविद्यालय में रहते हुए मिला और यह निमंत्रण पत्र स्वयं मॉरीशस के संस्कृति मंत्री श्री दयानंद वसन्त राय के हस्ताक्षर वाला था। विश्वविद्यालय की उदारता से मैं उनके प्रतिनिधि के रूप में मॉरीशस गयी। वहाँ मॉरीशसवासियों का हिंदी प्रेम, मातृभाषा प्रेम, मातृभूमि प्रेम देखकर मैं अभिभूत हो गयी। एक श्रद्धा का भाव मन में उमड़ा। मॉरीशस की यह यात्रा डॉ. कर्ण सिंह के

नेतृत्व में हुई थी। बड़ा सा प्लेन बम्बई (मुम्बई) से उड़ा था जिसमें मेरे साथ डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन', बाल कवि बैरागी, श्रीकांत वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विभूतियाँ भी थीं। इस हवाई जहाज में सुमन जी ने एक काव्य गोष्ठी करायी जिसकी चर्चा 'अन्तरिक्ष में कवि गोष्ठी' के नाम से कई दिनों तक होती रही। यह समाचार हिन्दुस्तान के अखबारों के साथ-साथ मॉरीशस के अखबारों में भी प्रमुखता से छपा था।

डॉ. अमिता दुबे : बहुत रोमांचकारी अनुभव रहा होगा।

डॉ. रमा सिंह : क्या बतायें! यह सिलसिला चलता रहा। इसके बाद तो मॉरीशस सहित न्यूयार्क लंदन आदि स्थानों में जाने का अवसर मिला। ट्रिनीडाड टुबेगो में सम्पन्न हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मंडल की सदस्य के रूप में मैंने भागीदारी की। इस प्रतिनिधि मण्डल के अगुवा थे श्री माता प्रसाद, पूर्व राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश। काव्य गोष्ठी में मैंने भी कविता पढ़ी और माता प्रसाद जी ने भी काव्य पाठ किया। विदेशों में हिन्दी की ध्वजा को फहराते देखकर मन में बेहद खुशी हुई और यह विश्वास भी दृढ़ हुआ कि हिंदी भाषा अंतर्राष्ट्रीय जगत में अपनी पहचान को स्थापित कर चुकी है और विकास की राह में निरंतर गतिशील है।

डॉ. अमिता दुबे : आपको साहित्य-सृजन की प्रेरणा परिवार से मिली या अन्य स्रोतों से। क्योंकि आपकी शिक्षा तो छात्रावास से ही प्रारंभ हुई और बाद में भी आपको छात्रावास में ही रहना पड़ा।

डॉ. रमा सिंह : अमिता जी! बोर्डिंग में रहना भी एक संयोग था और माता-पिता की प्रबुद्ध मानसिकता के कारण हम सभी भाई बहन बोर्डिंग में रहे पर इस प्रबुद्ध मानसिकता ने मुझे राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित किया, साहित्य से भी जुड़ाव दिया, राजनैतिक चहल-पहल को समझने का अवसर प्रदान किया। तुमने मुझे अतीत की गलियों में लाकर खड़ा कर दिया और घूमने-फिरने के लिए बाध्य कर दिया। मेरे पिता जी पुलिस के ऐसे अधिकारी थे जो पुलिसिया काम कम और समाजसेवा का काम ज्यादा करते थे। साहित्य पठन-पाठन उनका व्यसन था। वे स्वयं भी छंद लिखते थे-फणीन्द्र नाम से। उनके घनिष्ठ मित्रों में पं. सोहनलाल द्विवेदी और आशु कवि जगमोहन नाथ अवस्थी थे। जब छुट्टियों में हम सब भाई-बहन घर जाते तो यही वातावरण मिलता। द्विवेदी जी हम सभी छोटे बच्चों से अपनी लिखी पंक्तियाँ या दूसरे की कविताएँ भी सुनते रहते।

डॉ. अमिता दुबे : अपनी माता जी के विषय में कुछ बताइये।

डॉ. रमा सिंह : मेरी माता जी शिक्षित थीं। उनकी औपचारिक शिक्षा तो गाँव की पाठशाला में हुई थी। लेकिन स्वाध्याय का उन्हें बहुत शौक था विवाह के बाद मेरे पिता जी ने उनके इस शौक को बरकरार रखा। मेरे पिताजी ने उन्हें उपहारस्वरूप 'स्त्री सुबोधिनी' पुस्तक दी थी जिसको माता जी ने भरपूर पढ़ा और वह उन्हें कण्ठस्थ सी हो गयी थी। 'स्त्री सुबोधिनी' का उन्होंने व्यावहारिक प्रयोग अपनी गृहस्थी में भी किया। समाज से जुड़ने और गाँव की स्त्रियों की मदद करने की प्रेरणा उन्हें पिता जी से मिली। जिसका प्रभाव हम सब भाई-बहनों पर भी पड़ा।

डॉ. अमिता दुबे : रमा जी! आपने प्रयाणगीत लिखे, विजय गीत लिखे, संस्मरण गीत भी लिखे और साथ ही साथ मुक्त छंद की कविता भी समान गति से लिखी। आपको आत्म संतुष्टि कविता की किस विधा में अधिक मिली।

डॉ. रमा सिंह : अमिता! कभी-कभी यह देखने को मिलता है कि मुक्त छंद वाले छंदबद्ध कविता से चिढ़ते हैं और छन्दबद्ध कविता लिखने वाले कवि मुक्त छंद का परिहास उड़ाते है। यहाँ तक कि निराला जी के मुक्त छंद का भी मजाक उड़ाते हुए उसे 'केंचुआ छंद' या 'रबड़ छंद' कहा गया। मेरे लिए तो खाई खन्दक वाली स्थिति थी।

डॉ. अमिता दुबे : वह कैसे? डॉक्टर साहब।

डॉ. रमा सिंह : तो हुआ तो कि शुरू में मैंने गीत लिखे। मेरा एक गीत साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपा। गीत था-राह बोझिल न हो गुनगुनाते चलो/पंथ सूना न हो मुस्कुराते चलो।

इस गीत पर विष्णु प्रभाकर जी का पोस्टकार्ड आया कि रमा! तुम्हारा गीत बहुत अच्छा लगा और दूसरी ओर सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जी का फोन आया- कि यह क्या गीत-वीत लिख डाला भई! और उसे व्यावसायिक पत्रिका में छपवा भी दिया। मुक्त छंद में ही लिखा करो। बहुत अच्छा चल रहा है। अब मेरे मन में उहापोह...।

डॉ. अमिता दुबे : फिर क्या हुआ?

डॉ. रमा सिंह : दोनों की बातों ने मुझे ऊर्जा ही दी और आगे भी मैं दोनों तरह की कविताएँ लिखती रही। वैसे अगर सच बतायें तो गीत लिखना बेहद अनुशासन का कार्य है और देखा जाए तो जब गीत रचना में कसाव आता है तब ही मुक्त छंद की कविता भी अच्छी बनती है। छंद मुक्त कविता अधिकांशत: तभी अच्छी बन सकती है जब कवि गीत रचना में भी साधना करे, छंद के अनुशासन को भली भांति समझे। मुक्त छंद के अधिकांश प्रतिष्ठित हस्ताक्षर जैसे भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह और स्वयं सर्वेश्वर जी ने भी बहुत अच्छे और चर्चित गीत लिखे। धर्मवीर भारती के गीतों का क्या कहना...।

डॉ. अमिता दुबे : इधर आप क्या लिख रही है?

डॉ. रमा सिंह : इधर मैंने न केवल हिंदी बल्कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में समतामूलक तत्त्वों की पड़ताल करने की कोशिश की है, जो लेखों के रूप में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं या मंच पर दिये गये व्याख्यानों के रूप में सामने आये हैं। इसके अलावा समाज की नयी विसंगतियों को, समाज की सामयिक पीड़ाओं को देखने का अभ्यास सा बन गया है। पारिवारिक दृश्य बदल गये हैं। परिवार के वरिष्ठजन अकेले रह गये हैं वे अपने दु:ख अकेले या दुकेले सह रहे हैं। उनके परिवार के छोटे सदस्य रुपये कमाने की होड़ में बाहर हैं यह समाज की नयी व्यथा है। इसी भावभूमि का एक इधर का गीत है-

हो गये संबंध जर्जर क्या करें/काँपते तन प्राण थर-थर क्या करें।/बस गये परदेस वे आँख के तारे/चुक गया है देहरी पर प्यार/स्नेह के झूठे वचन सब फोन पर/ दूरियाँ बढ़ती गई हर बार।/मलय चंदन गंध से भरपूर/ बबुरी वन हुआ है घर!/क्या पता था झेलने होंगे नुकीले दंश/वंश के वट-वृक्ष थे हम, लग रहे निर्वंश/कहाँ सब खो गये वे उत्सवों के दिन/गीत की धुन खो गयी बदरंग हुआ फागुन/बाँह अब किसकी गहें/किस पर रहें निर्भर।

डॉ. अमिता दुबे : आपकी कविता में जो शिल्प और कथ्य है वह अनूठा है? रमा जी! आपके प्रिय प्रतीक और बिम्ब क्या हैं? कथ्य का केन्द्र बिन्दु क्या है?

डॉ. रमा सिंह : मेरी कविता में मेरे प्रिय बिम्ब हैं-समुद्र, रेत, हवा, सुगंध और भी तमाम प्रकृति के उपकरण...! मृगतृष्णा काव्य पंक्तियों में रेत का बिम्ब इस तरह है-

धूप नहीं सोने का झरना है/कठिन इसे गागर में भरना है/रेती पर पानी का रूप लिए फिरती है/किरन : नहीं सोने का हिरन है/शायद मृगतृष्णा है।

इसी तरह फूल की सुगंध का बिम्ब मेरे लिए एक संदेश जैसा है-एक मुक्तक इस तरह है-

एक कच्ची डोर में अंबर घिरा/बंधनों में जीर्ण है सारी धरा/पाँखुरी ने तो बहुत बाँधा मगर/गंध ने माना नहीं यह दायरा।

अमिता जी! ये कोरे बिम्ब नहीं है मन की बातें हैं... इन्हीं बातों से बन जाती हैं कविताएँ... और मेरे कथ्य के केन्द्र में हैं सामाजिक सरोकार और एक बेहतर समाज को देखने का सपना...।

संपर्क : डॉ. अमिता दुबे
'नारायण आश्रय' पिकप भवन के पीछे,
विभूति खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ (उ.प्र.)

डॉ. रमा सिंह

संगीत का प्रवहमान झरना

बँसुरी :
गोया : खोखलापन और सारे छेद
जड़ बाँस...
फूँकते ही न जाने कितनी लय और तानें
फूट पड़ती हैं...
कभी रीती नहीं होती इसकी स्वर-संपदा

मृदंग :
मरी हुई खाल से मढ़ा
यह मिट्‌टी का कटोरा
थाप पड़ते ही
गूँज उठता अंतर...
कैसी है भीतर की यह रिक्तता
कि बन जाती है स्वर-लहरी का सहारा

सितार :
कसे हुए वे लोहे के निर्जीव तार
उँगलियों का स्पर्श पाते ही
झनझना पड़ता है आरोह-अवरोह
संगीत की कितनी पूँजी भरी है
इन कसे हुए तारों में

काश!
हमारे संगीत की धारा भी
हो सकती इतनी ही अक्षुण्ण
और
काश! हमारी जड़ता, हमारी रिक्तता, हमारा कसाव भी
बन सकता संगीत का
एक प्रवहमान झरना।

कस्तूरी मृग जैसे

शब्द से परे
अर्थ से परे
कोई नाद था
जिससे बँधे हम
दौड़ते रहे
शर-बिद्ध मृग-से

कथा से परे
व्यथा से परे
कोई हिम-शिला थी
जो पिघलकर बहती रही
हमारे सहमे हुए दृग-से

क्षितिज से परे
परिधि से परे
कोई लक्ष्य-बिन्दु था
जिसके लिए पंख फड़फड़ाते
हम उड़ते रहे
भटके हुए खग-से

रूप से परे
रंग से परे
कोई मादक सुगंधि थी
जिसे हम तलाशते रहे
कस्तूरी मृग जैसे

वह नाद, वह शिला
वह बिन्दु, वह गंध
क्या है— कौन-सा आकर्षण है
कि हम रेतीली धरती पर
भागते रहे
एक प्यासे मृग से—

रेत की तपती हवा

रेत की तपती हवा
मरुभूमि की मजदूरनी
रेत में जल ढूँढ़ती
श्रम-वारि-बूँदों-से सनी।

रेत की तपती हवा
जीवन्तता का रूप है,
रेत पर लिखती कहानी
जल-परी-सी धूप है।

रेत की तपती हवा
संघर्ष की झनकार-सी
रेत की तपती हवा
वह उष्मा है प्यार की।

रेत की तपती हवा
बिखराव की तस्वीर है
धूल-आँधी बन भटकती
चपल और अधीर-सी।

रेत की तपती हवा
दार्शनिक के ज्ञान-सी,
रेत की तपती हवा है
कर्म की पहचान-सी।

रेत की तपती हवा
जल-धार की अन्वेषिका
रेत की तपती हवा
संगीत है बस प्यास का।

रेत की तपती हवा तुम
शून्य के उच्छ्वास-सी,
मेघ की छवि ढूँढ़ती है
व्यग्र और उदास-सी।

रेत की तपती हवा
श्रम साधना का कोष है
रेत की तपती हवा
संघर्ष का जय घोष है।

संपर्क : बी-1098, इंदिरा नगर, लखनऊ (उ.प्र.)

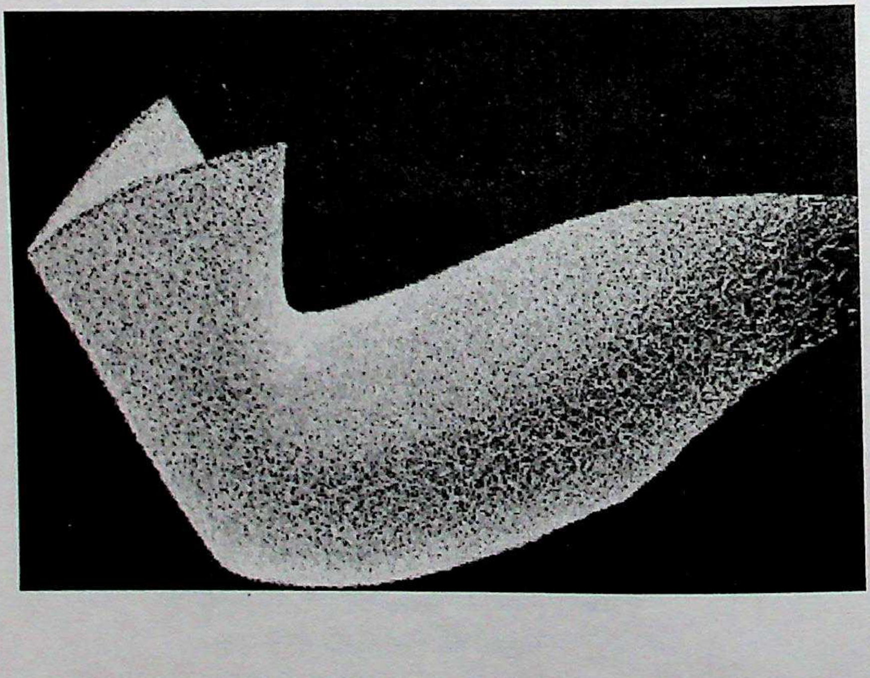

प्रो. सदानन्द प्रसाद गुप्त

वैचारिक स्वराज का निर्माण : स्थिति और संभावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के छ: दशक बाद आज वैचारिक स्वराज की स्थिति पर विचार करते समय बरबस ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन की ओर ध्यान चला जाता है। आचार्य शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध निबंध काव्य में प्राकृतिक दृश्य में बहुत ही स्पष्ट ढंग से वैचारिक स्वराज के निर्माण की दिशा की ओर संकेत कर दिया है- 'जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देश प्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता से है, केवल अन्न, धन्न संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बँधी-बँधायी परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नयी उभरी हुई इतिहास शून्य जंगली जातियों के बीच अपना नाम लिखाया।' आचार्य शुक्ल ने जिस स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता की ओर संकेत किया है वही वैचारिक स्वराज के निर्माण का मूल है। यही वह तत्व है जिसकी आकांक्षा काफी पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने की थी- 'स्वत्व निज भारत राहै।' वस्तुत: कोई भी राष्ट्र स्वत्वबोध के बिना निष्प्राण हो जाता है। यह ज्ञात तथ्य है कि आत्मविश्वास

भारत का पश्चिम शिक्षित तथाकथित सेक्यूलर वर्ग जो पिछले पचास वर्षों से हमारे समाज और राज्य व्यवस्था को संचालित कर रहा है, आत्मविस्मृति का सबसे दारूण शिकार रहा है, जो चाहे मार्क्सवाद से, धर्मनिरपेक्षतावाद अथवा आधुनिकतावाद किसी भी नाम से अपने अतीत, अपनी परम्परा, अपनी जातीय स्मृति पर परदा डालने की कोशिश करता रहा है... इन्होंने विज्ञान आधुनिकता और प्रगति के नशे में अपनी परम्परा की बहुमूल्य सम्पदा को या तो भुला दिया है या पश्चिम के हाथों कौड़ी के मोल बेच दिया है।

का आधार स्वाभिमान है और स्वाभिमान का आधार स्वत्वबोध। स्वत्वबोध के बिना किसी भी राष्ट्र की इयत्रा नहीं। आचार्य शुक्ल ने 17 अक्टूबर 1939 ई. को काशी में आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पद से सम्बोधित करते हुए साहित्य में स्वत्वबोध को जागृत करने का आवाहन किया था- 'हमारी आज महानुभावों से यही प्रार्थना है कि आप हममें साहित्य संबन्धिनी स्वतंत्रता का ऐसा भाव जगा दें कि हम योरप में हर एक उठी हुई बात की ओर लपकना छोड़ दें, समझ-बूझकर उन्हीं बातों को ग्रहण करें जिनका स्थायी मूल्य हो, जो हमारी परिस्थिति के अनुकूल हो।[2] आचार्य शुक्ल के समय और उससे पहले भी पश्चिमी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियों का एक बड़ा समुदाय था जो यूरोप की नकल में ही गर्व का अनुभव करता था और अपनी भाषा, साहित्य, ज्ञान विज्ञान को अपेक्षाकृत हेय दृष्टि से देखता था। शुक्लजी ने इन सब चीजों को बड़ी ही पैनी निगाह से देखा था। इसलिए उन्होंने आसन्न खतरे की ओर संकेत करते हुए सचेत किया था। भारतवर्ष में अनुवादजीवी मानसिकता वाले लोगों की एक जमात काफी पहले से मौजूद थी, जिसकी शुरुआत राजा राम मोहनराय के समय से होती है। इस संदर्भ में प्रख्यात चिंतक साहित्यकार निर्मल वर्मा की टिप्पणी ध्यात्व्य है- 'उन्नीसवीं' शताब्दी के भारतीय समाज की विडम्बना यह थी कि उसके पुरोधा राजा राम मोहनराय जैसे बुद्धिजीवी पश्चिमी सभ्यता के तथाकथित विकासोन्मुख आदर्शो के सम्मुख अपने को छोटा पाते थे। वे एक ओर अपने अतीत के प्रति गर्व करते थे और दूसरी ओर 'आधुनिक यूरोपीय मान्यताओं के प्रति आकर्षित भी थे, उन्हें उच्चतर सभ्यता का प्रतीक मानते थे। वे दोनों में समन्वय करना चाहते थे, जो भ्रामक और घातक था। वास्तव में आज जिसे पश्चिम शिक्षित आधुनिक एलीट कहते हैं उस वर्ग की जड़े सीधी इस तथाकथित 'समन्वय' से जुड़ी हैं, एक ऐसा वर्ग जो एक तरफ भारतीय परम्परा का गुणगान करता है, दूसरी ओर अपने आदर्शो और सिद्धान्तों में- अपनी समूची जीवन पद्धति में पश्चिम की नकल करता है।[3] प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक धर्मपाल ने भी 'एलीट' वर्ग के भारतीयों की इस मनोवृत्ति की ओर संकेत किया है: 'हमारे देश के धनी, शिक्षित व ब्रिटिश शासन से जुड़े लोग 1830 के करीब से ही यूरोपीय मान्यताओं की ओर बढ़ रहे थे और भारत के उद्योग इत्यादि के कमजोर पड़ने पर यूरोपीय वस्तुओं का ही इस्तेमाल करने लगे थे। गांधी जी के 1915 में भारत में आने के बाद और उन्हें सुनकर यह यूरोपीय प्रभाव कुछ घटा तो लेकिन मिटा नहीं। 1944 के करीब से यह फिर बढ़ने लगा और स्वतंत्रता संग्राम में शामिल धनी और शिक्षित लोग यूरोपीयन तरीकों के हामी हो गये और खुले आम कहने लगे कि 'भारत को अब यूरोप के रास्तों पर ही चलना पड़ेगा।'[4] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यूरोप और अमेरिका की अबाध नकल से इस प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर विकास होता गया और आज यह अपने चरम पर पहुँच गया है। भाषा साहित्य कला, संस्कृति, समाज विज्ञान, विज्ञान, तकनीक सभी क्षेत्रों में नकलचीपन दिखायी दे रहा है। इस स्थिति पर क्षोभ भक्त करते हुए चिंतक साहित्यकार रमेशचन्द्र शाह लिखते हैं- 'भारत एक नकलची देश है, एकदम फूहड़ और लाइलाज नकलची। किसी भी क्षेत्र में हमारी भारतीयता का पता नही चलता, न विचार में न आचार में।[5] राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मात्र अनुकरण को देश की संस्कृति के लिए उसके रचनात्मक विकास के लिए, उसकी मौलिकता के लिए अत्यन्त घातक माना है- 'है आदान एक अपमान, कर सकें न यदि हम प्रतिदान।' इस अनुकरणात्मक प्रवृत्ति से हमारा आत्मविश्वास डगमगा गया है। इसने हमें अपने परम्परा से विच्छिन्न किया है अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपने साहित्य, अपनी ज्ञान विज्ञान की

समृद्ध विरासत के प्रति हीनता बोध पैदा किया है विशेषकर तथाकथित 'आधुनिक' एवं 'प्रगतिशील' लोगों को स्मृतिविहीन किया है। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि यही वर्ग भारतीय समाज का प्रभुत्व सम्पन्न एवं समर्थ प्रभावशाली वर्ग बन गया है। चेक लेखक मिलान कुन्देरा एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करते हैं- 'एक देश की जातीय अस्मिता को नष्ट करने का सबसे सरल उपाय है- उसकी स्मृति को उन्मूलित करना।'[6]

औपनिवेशिक शासन के दौरान अंग्रेजों ने हमारी स्मृति को नष्ट करने का भरपूर प्रयास किया। इसके लिए एक संदर्भ का उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा। लॉर्ड मैकॉले के पिता ने सन् 1836 में अपने पुत्र से कहा था कि तुम ईसाई धर्म के प्रचार के लिए कुछ नही कर रहे हो। पिता के इस पत्र के उत्तर में मैकॉले ने लिखा था कि मैंने एक ऐसी शिक्षा नीति तैयार की है जिससे बंगाल में कोई मूर्तिपूजक नही रह जायेगा (No one will remain idolater in Bangal) और यह सब शांतिपूर्ण ढंग से हो जायेगा। ध्यातव्य है कि मैकॉले ने जो शिक्षा नीति तैयार की थी उसे फरवरी 1835 में शासन के समक्ष रखा था और 7 मार्च 1835 को वह लागू कर दी गयी जिसके अंतर्गत अंग्रेजी राजकाज की भाषा घोषित की गयी। अंग्रेजों ने भारत की पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था, भाषा और संस्कृति को नष्ट करने की पूरी चेष्टा की। इतिहास और मिथक का भ्रम उत्पन्न कर भारतीय संस्कृति की भव्य उज्जवल परम्परा को कपोल कल्पना कहकर उसे खारिज करने का प्रयास किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सेक्यूलर और वामपंथी कहे जाने वाले बुद्धिजीवियों ने इस प्रयास को और आगे बढ़ाया। इससे देश में एक प्रकार का बौद्धिक बाँझपन आया। निर्मल वर्मा इस विडम्बना पर एक कठोर टिप्पणी करते हैं- 'आत्मविस्मृति से अधिक भयंकर और दयनीय स्थिति नहीं। वह मनुस्थत्व के सबसे पवित्र पहलू को दूषित करती है। भारत का पश्चिम शिक्षित तथाकथित सेक्यूलर वर्ग जो पिछले पचास वर्षों से हमारे समाज और राज्य व्यवस्था को संचालित कर रहा है, आत्मविस्मृति का सबसे दारूण शिकार रहा है, जो चाहे मार्क्सवाद से, धर्मनिरपेक्षतावाद अथवा आधुनिकतावाद किसी भी नाम से अपने अतीत, अपनी परम्परा, अपनी जातीय स्मृति पर परदा डालने की कोशिश करता रहा है... इन्होंने विज्ञान आधुनिकता और प्रगति के नशे में अपनी परम्परा की बहुमूल्य सम्पदा को या तो भुला दिया है या पश्चिम के हाथों कौड़ी के मोल बेच दिया है।[8] इस आत्मविस्मृति की स्थिति ने हमारे स्वतंत्र चिंतन के आधार को ही नष्ट कर दिया है। दुखद बात यह है कि आत्म निर्वासित होना सबसे बड़ी त्रासदी है, वहीं भारत के लिए सामान्य अवस्था, दैनिक जीवन के अभ्यास में भारतीय एक प्रकार से आत्मशून्यता के अभ्यस्त हो गये हैं और उसी में गौरवान्वित होते हैं। पराधीनता से संघर्ष के दौरान हम केवल राजनीतिक रूप से ही स्वतंत्र होना नहीं चाहते थे अपितु हमारी लड़ाई वैचारिक स्वराज के लिए भी थी। निराला देवी से जो प्रार्थना करते हैं 'माँ अपने आलोक निखारो, नर को नरक त्रास्त से तारो'[9] तो उसमें नरक त्रास से मुक्ति दिलाना सभी प्रकार की पराधीनता से मुक्ति दिलाने के अर्थ मे प्रयुक्त है।

निराला जब अपनी कविता 'वीणावादिनी वर दें' में सरस्वती से भारत में 'अमृत मंत्र नव' भर देने की प्रार्थना करते हैं तो उसमें भी वैचारिक स्वतंत्रता का अर्थ किया हुआ है। वे हर प्रकार की नवीनता की कामना करते हैं। नयी गति, नया लय, नया कंठ, नया आकाश, नया स्वर इस आकांक्षा में हर प्रकार की पराधीनता से मुक्ति का स्वर छिपा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महर्षि अरविंद, महात्मा गांधी ने भी वैचारिक स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष किया था। इस परम्परा को

आज भुला दिया गया है। इसी कारण हम अपनी समृद्ध चिंतन-परम्परा के प्रति शंकालु हो गये हैं। निर्मल वर्मा इसे बौद्धिक दिवालियापन और आत्म विस्मृति की संज्ञा देते हैं- 'दुनिया में शायद ही किसी देश में बौद्धिक दिवालियापन ओर आत्मविस्मृति की मिसाल देखने को मिले जो हमें भारत में दिखायी देती है। अपने तथाकथित धर्म-निरपेक्षी (जिसे धर्म अज्ञानी कहना अधिक उचित होगा) उत्साह में इस सत्तारूढ़ वर्ग ने पश्चिम की भोंड़ी नकल करते हुए भारत के सार्वजनिक जीवन से इस परम्परागत सभ्यता बोध को प्रतिक्रियावादी और पिछड़ा मानकर बहिष्कृत कर दिया।[10] यही कारण है कि हम अपनी वास्तविक उपलब्धियों के प्रति भी संशयग्रस्त हैं, अपनी क्षमता के प्रति आश्वास्त नहीं है, इतना ही नहीं अपनी प्राचीन समृद्ध चिंतन के प्रति हमारे मन में सम्मान का भाव नहीं हैं। 'भारतीय सभ्यता की निर्मिति' नामक पुस्तक में इस सोचनीय दशा पर भगवान सिंह टिप्पणी करते हैं- 'ऋग्वेद में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि धरती घूमती है। परन्तु यदि किसी ने दावा कर दिया कि ऋग्वैदिक काल के भारतीय चिंतकों को इस बात का पता था कि धरती घूमती है तो उसको पुनरूत्थानवादी ही नही उससे भी कुछ गर्वित सिद्ध किया जाना निश्चित हैं।' यह स्मृति भ्रंश की चरम दशा हैं। भगवान सिंह इसी पुस्तक में भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर किये जाने वाले प्रहार पर अत्यन्त मार्मिक टिप्पणी करते हैं- 'इतिहास के सच को ही मिथक गढ़ना दूसरी तरह का विघटनकारी काम है। यह स्मृति भ्रंश की वह दशा है जिसमें अपने अतीत से सम्बन्ध कर जाने पर व्यक्ति एक ओर व्यग्र अनुभव करता है दूसरी ओर अपने सच पर विश्वास नहीं कर पाता है।[12]' रामपंथी कहे जाने वाले बुद्धिजीवियों की भूमिका इस संदर्भ में बहुत घातक रही है। रामविलास शर्मा लिखते हैं- 'प्राचीन संस्कृति पर गर्व करना तो बहुत दूर की बात है उसका नाम लेने से भी कुछ लोगों को उबकाई आने लगती है। ऋग्वेद का नाम लिया और उन्होंने कहा कि यह आदमी तो संघ परिवार का है। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में भारत की कोई भी उपलब्धि हो उसका जिक्र करते ही मार्क्सवादी मित्र कहते हैं कि वह पुनरूत्थानवादी है। सभी मार्क्सवादी ऐसा नहीं करते लेकिन जो करते हैं उनकी संख्या काफी बड़ी हैं।[13] इस स्मृतिभ्रंश ने यहाँ के तथाकथित 'एलीट' बुद्धिजीवियों को उस स्थिति में पहुँचा दिया है कि वे अपनी परम्परागत उपलब्धियों के यश में प्रमाण जुटाने की अपेक्षा प्रमाणों को नष्ट करने के प्रयत्न में ही अपनी सार्थकता देखते हैं। इतना ही नहीं प्रमाणों को नष्ट करने की योग्यता को इतना गौरवपूर्ण बना दिया गया है कि बिना किसी ठोस आधार के मात्र हँसकर उन्हें उड़ा दिया जाता है और वाहवाही लूटी जाती है। गीता में ठीक ही कहा गया है कि स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नष्ट होने पर मनुष्य का नष्ट होना अवश्यम्भावी हैं-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गत्सञ्जायते कामः कामात्क्रो घोडभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशी बुद्धिनाशात्प्रगश्चति।।[14]

इस स्मृतिशून्यता के कारण जीवन और जगत् के बारे में भारतीय मनीषा की जो भी ज्ञानात्मक उपलब्धियाँ और अनुभव सिद्ध मान्यताएँ रही है उन्हीं को लेकर आज के बुद्धिजीवियों में संशय और हीन भाव दीखता है। इसके बड़े भयानक परिणाम सामने आये हैं। हम अपने प्राचीन चिंतकों से तो कह ही गये हैं, हम हाल के विचारकों से भी संवाद कायम करने में असमर्थ हैं। प्रसिद्ध रचनाकार एवं आलोचक रमेशचन्द्र शाह इस पर गहरा क्षोभ व्यक्त करते हैं कि अपने देश के हाल के विचारकों के साथ भी हम इस तरह से आत्मीयता का अनुभव नहीं करते जिस तरह

से आत्मीयता को अनुभव विदेशी चिंतकों के साथ करते हैं। अपनी समस्याओं पर सोचते हुए हमें इर्मसन तो फौरन याद आ जाते हैं, पर अरविन्द नहीं।[15] अज्ञेय ने भी इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की है- 'हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दिखती है न आस्था दिखती है न अपनी चिंता दिखती है। उनकी चिंता, उनकी अनास्था, उनका यश हमको दिखता है और इस आधार पर हम अपने को 'आधुनिक' मानते हैं। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, इसकी कोई चिंता हमको नहीं है।[16] स्नातंत्र्योत्तर भारत के लेखन- विशेषकर अंग्रेजी और हिन्दी में किये जा रहे लेखन- पर दृष्टि डाले तो कुछ अपवादों को छोड़कर स्वतंत्र चिंतन की परम्परा खंडित दिखायी देती है। निर्मल वर्मा बहुत ही कठोर टिप्पणी करते हैं- 'क्या हम अपने स्वातंत्र्योत्रर वर्षों को देखते हुए निर्द्वन्द्व भाव से कह सकते हैं कि स्वतंत्र भारत का कोई भी राजनेता मनीषी और चिंतक गुलाम भारत के विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, तिलक और गांधी से अधिक स्वाधीन चेतना और वैचारिक विवेक से मंडित है? क्या इतिहास की यह क्रूर विडम्बना नहीं कि राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होने के बाद हमने वह आत्म विश्वास भी खो दिया है जो सांस्कृतिक परम्परा की सचेतन पहचान से आता है?[17] स्वातंत्र्योत्तर भारत के ढाँचे और उसकी कार्य प्रणाली को देखें तो निर्मल वर्मा के कथन का मर्म समझ में आ जाता है। आजादी के बाद हमने इस बात पर विचार ही नहीं किया कि हम अपने विकास, सोच विचार की अपनी पद्धति के अनुकूल संस्थान विकसित करें। धर्मपाल भी इस बात पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि पिछले पचास वर्षों में तो यूरोपीय दृष्टि और तौर तरीकों का बोलबाला बढ़ा ही है।... हमारे राजतंत्र, उद्योग, शिक्षा, नगरपालिकाएँ, पंचायत इत्यादि भी यूरोपीय व्यवस्थाओं की मान्यताओं पर चलती हैं।... हमने अपना आत्मसम्मान और साहस भी खो दिया दिखता है।[18] स्वतंत्र भारत की शिक्षा व्यवस्था, शासन प्रणाली, न्यायपालिका, राजनीति सब पर पश्चिम का गहरा प्रभाव है। राजनीति शास्त्र, इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का अध्ययन अध्यापन यूरोपीय ढंग से हो रहा,है। इतिहास लेखन पश्चिमी दृष्टिकोण से किया जा रहा है। विज्ञान के क्षेत्र में हमारी मौलिकता कहीं नजर नहीं आती- पश्चिम का अनुकरण ही हमारा उद्देश्य हो गया है। वनस्पतियों के सारे नाम यूरोपीय हैं, जिनमें पौधे के गुण से नाम का कोई सम्बन्ध नहीं है, आयुर्वेद जो भारतीय चिकित्सा पद्धति का सहस्राब्दियों से अभिन्न अंग रहा है उसे हमने उपेक्षित कर रखा है, साहित्य के सारे सिद्धांत जिन पर हम बहस करते हैं और अपने आपको बुद्धिजीवियों की पंक्ति में खड़ा करते हैं- उत्तर आधुनिकता, विखंडनवाद, स्त्री-विमर्श, अबाल्टर्न चेतना- सभी पश्चिम से आयातित हैं। चिंतन में समग्रता को स्थान नहीं दिया गया है, चीजों को खण्ड खण्ड देखने का आग्रह प्रबल है। पश्चिम में पश्चिमी विद्या का विभाग नहीं है, पर भारत में 'ओरियण्टल डिपार्टमेंट' खोला गया और आज हम उसे बनाये हुए हैं। वस्तुत: 'ओरियण्टिलिज्म' भारत को पश्चिमी दृष्टिकोण से देखने का मानक है और हमें इसे बहुत पहले छोड़ देना चाहिए था। यह बड़ी निराशाजनक स्थिति है। कहाँ तो हमारा स्वप्न था स्वाधीनता प्राप्त करना- जीवन के हर क्षेत्र में स्वाधीन होना और चिंतन, कर्म और जीवन व्यवस्था को फिर से उन जातीय मर्यादागरों से जोड़ना जो विदेशी शासन के प्रभाव में भ्रष्ट और दूषित हो चुकी थी। पर ऐसा संभव नहीं हुआ निर्मल वर्मा सही सवाल उठाते हैं कि क्या पिछले वर्षों में हमारे विश्वविद्यालय लोकतंत्र की संस्थाएँ और शासन व्यवस्था भी हमारे भीतर के उन प्रेरणा स्त्रोतों को पुनर्जाग्रत कर सकी हैं जिनके आधार पर हम अपनी मानसिक दासता और निष्क्रियता से छुटकारा पा सकते? क्या स्वतंत्रता प्राप्त करने के

बाद हमने अपनी जीवन प्रणाली को कुंठित करने वाली उन बाधाओं को दूर किया- अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी शिक्षा प्रणाली, विदेशी मॉडल पर बनी शासन संस्थाएँ जो हमारे स्वाधीन कर्म- चिंतन को दो सौ वर्षों से अवरुद्ध करती आयी थी? आज यदि हम अपने को इतनी असहाय अवस्था में पाते हैं तो सिर्फ इसलिए कि अंग्रेज हमें जिस गुलामी की बेड़ियों में छोड़ गये थे उसे बदलने के बजाय हमारी तथाकथित लोकतांत्रिक संस्थाओं, हमारी पढ़ाई-लिखाई की शिक्षा प्रणाली हमारे समूचे शासन तंत्र ने उसे और भी अधिक मजबूत बनाया हैं।[19] पश्चिम का प्रभाव यहाँ तक दिखायी पड़ता हैं कि अधिकांश स्वयंसेवी संगठन भी पश्चिमी आदर्शों से प्रेरित परिचालित हैं। इतना ही नहीं सरकार द्वारा बनाये गये कानून भी पश्चिमी प्रभाव की झलक देते हैं। घरेलू हिंसा के विरुद्ध बनाये गये कानून, विवाह के सम्बन्ध में बनाये गये कानून परिवार और समाज के परम्परागत ढाँचे को कमजोर करेंगे, व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विकास होगा ओर अंततोगत्वा 'राज्य' पर निर्भरता बढ़ती जायेगी। 'शाश्वत', 'सार्वकालिक' जैसे प्रत्ययों का स्थान 'प्रत्यक्ष', 'तात्कालिक', 'विद्यमान' जैसे प्रत्ययों ने ले लिया हैं, साहित्य में 'लोकमंगल' का सिद्धान्त अप्रासंगिक बना दिया गया है, उसका स्थान 'सोशल कल्चर' के अनुवाद 'सामाजिक सरोकार' ने ले लिया है। यह बड़ी घातक स्थिति है। इन सबने हमारी स्वतंत्र चिंतन की शक्ति को कुंद किया है। धर्मपाल के इस कथन में कड़वी सच्चाई छिपी है कि 'जो साहब, आत्म विश्वास, देश को बनाने का उत्साह सन् 1947 के पहले आया था, उस पर पिछले पचास वर्षो में बहुत हद तक पानी फेर दिया।... आज भारतवर्ष में जो हो रहा है वह तो बहुत ही निम्न स्तर का योरोप व अमेरिका का अनुकरण है।'[20] वैचारिक स्वराज के निर्माण के लिए इस हीनता बोध से उबरना अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि अरविन्द का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि 'स्वतंत्र चिंतन स्वरक्षा और समुन्नत भविष्य की आवश्यक पूर्वपीठिका हैं।'

वैचारिक स्वराज का एक महत्वपूर्ण घटक भाषा है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि किसी भी देश की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने में उस देश की भाषा की बहुत बड़ी भूमिका है। भाषा केवल विचारों के सम्प्रेषण का माध्यम नहीं है अपितु उस देश की संस्कृति की वाहक भी हैं। कोई भी देश अपनी भाषा के माध्यम से ही शक्ति अर्जित कर सकता है, अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। अज्ञेय उचित ही कहते हैं कि भाषा अपने आपको पहचानने का साधन है, भाषा के बिना अस्मिता की पहचान नहीं होती और भाषा उसके साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। आज अगर किसी समाज को उसकी भाषा से काट दिया जाय तो इतना ही नहीं है कि उससे एक भाषा छिनकर हम उसको कोई दूसरी भाषा देते हैं, हम उसकी अस्मिता को भी खण्डित कर देते हैं।[21] निर्मल वर्मा ने भाषा को किसी जाति के भावनात्मक संवेगों का सबसे प्रामाणिक मानदण्ड माना है। उनकी यह काव्यात्मक उक्ति बहुत ही अर्थवान है और भाषा के आंतरिक चरित्र का उद्घाटन करती है कि यदि किसी जाति का भूगोल उसकी देह को चित्रित करता है तो भाषा उसकी आत्मा की अंतरतम आकांक्षाओं को वाणी देती हैं।'22 वस्तुतः किसी भी देश की अस्मिता का उस देश की भाषा से गहरा सम्बन्ध होता है। भाषा संस्कृति और अस्मिता का महत्वपूर्ण उपकरण होती है। इसलिए जब अज्ञेय यह कहते हैं कि कोई समाज परायी भाषा में जी नही सकता, जीना आरम्भ भी नहीं कर सकता.... किसी भी समाज को अनिवार्यतः अपनी भाषा में जीना होगा- नहीं तो उसकी अस्मिता कुंठित होगी ही होगी और उसमें आत्म बहिष्कार या अजनबीपन के विकार प्रकट होंगे ही'[23] अपनी भाषा में ही व्यक्ति की मौलिक प्रतिभा का विकास हो सकता है।

परायी भाषा का आश्रय लेने वाला देश या समाज केवल अनुकर्ता होकर रह जाता है। यहाँ प्रश्न भाषा को लेकर किसी तरह के दुराग्रह या पूर्वाग्रह का नहीं है बएिक भाषा के साथ जुड़े आत्म विश्वास का है। भाषायी आत्म विश्वास केवल ऊपरी व्यवहार की वस्तु नहीं है बल्कि किसी समाज का सम्पूर्ण आचरण और विकास उससे निर्धारित होता है। जब कोई समाज अपने आपको समझने के लिए, अपने इतिहास, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान, साहित्य के अध्ययन-मनन के लिए अपनी भाषा में सुलभ मौलिक स्त्रोतों को छोड़कर किसी अन्य भाषा में प्रदत्त उन स्त्रोतों के अनुवादों और व्याख्याओं का सहारा लेने लगता है तो वह अपनी परम्परा और वर्तमान- दोनों से कट जाता है। यह अकारण नहीं है कि मैक्सूमूलर जैसे भारतविदों को बराबर यह बोध था कि जब तक भारत में संस्कृत और उससे उद्भूत भाषाएँ परस्पर संवाद ओर आत्म चिंतन के लिए जीवित रहती है तब तक उसकी सांस्कृतिक अस्मिता बची रहेगी यह भी ध्यानव्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राष्ट्रीय चेतना इसी सांस्कृतिक अस्मिता के भीतर से प्रस्फुटित हो सकी थी। निर्मल वर्मा सही लिखते हैं कि संस्कृत और भारतीय भाषाओं के भीतर जातीय स्मृतियों की एक ऐसी समृद्ध और विफल सम्पदा सुरक्षित थी जो एक संजीवनी शक्ति की धारा की तरह अतीत से बहकर भारत की वर्तमान चेतना को आप्लावित करती थी। राष्ट्रीयता के बीज इसी चेतना में निहित थे।'[24] 1927 में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने वैचारिक स्वराज की जो बात उठायी थी, उसका बहुत गहरा सम्बन्ध भाषायी अस्मिता से जुड़ा था। इस दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर भारत की स्थिति पर विचार करें तो वैचारिक स्वराज के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अपनी भाषा के प्रति हीनता की ग्रंथि और अंग्रेजी भाषा के प्रति गौरव बोध है। अंग्रेजी भाषा के प्रति जबर्दस्त मोह हमारी अस्मिता को कुंठित कर रहा है। इस भयावह संकट को हम देख नहीं पा रहे हैं। महात्मा गांधी ने अंग्रेजी के दुष्प्रभाव का आँकलन बहुत पहले ही कर लिया था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में लिखा था- 'हमारे अच्छे-से-अच्छे विचार प्रकट करने का जरिया है अंग्रेजी। हमारी कांग्रेस सरकार का कारोबार भी अंग्रेजी में ही चलता है। अगर ऐसा लम्बे अरसे तक चला तो मेरा मानना है कि आने वाली पीढ़ी हमारा तिरस्कार करेगी और उसका शाप हमारी आत्मा को लगेगा। आपको समझना चाहिए कि अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, दाग, जुल्म वगैरह बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों ने प्रजा को ठगने और परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रेखा है। हिन्दुस्तान को गुलाम बनाने वाले तो हम अंग्रेजी जानने वाले लोग ही है। राष्ट्र की हाय अंग्रेजों पर नहीं, सभी पर पड़ेगी।'[25] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्र के तथाकथित कर्णधारों ने गांधी जी की चेतावनी की अनदेखी की और अंग्रेजी को व्यावहारिक रूप से राजभाषा बनाये रखा। आज सचमुच कुछ मुट्ठीभर लोगों द्वारा जनता को ठगने का काम जारी है। आज अंग्रेजी लूट की भाषा बन गयी है। मानविकी, समाज-विज्ञान, विधि, विज्ञान, तकनीक, चिकित्सा, व्यवसाय-प्रशासन शिक्षा के जितने विषय हैं, सबकी भाषा अंग्रेजी है। इसके अतिरिक्त न्याय शासन-प्रशासन, उद्योग एवं व्यवसाय की भाषा भी अंग्रेजी ही है। अंग्रेजी ने शिक्षा को सामान्य लोगों की पहुँच से दूर कर दिया है, अंग्रेजी के कारण प्रशासन और जनता के बीच गहरी खाई बन गयी है- दोनों के बीच आत्मयी संवाद का सर्वथा अभाव है, न्याय प्रणाली खर्चीली और जनता को कंगाल बनाने वाली बन गयी है। अंग्रेजी ने थोड़े से लोगों को सम्पन्न और अधिकांश लोगों को विपन्न बनाया है। अंग्रेजी भाषा ने लोगों में मिथ्या अहंकार पैदा किया है और वे लोग भारतीय भाषा-भाषियों को

हेय दृष्टि से देखते हैं। 1921 में गांधी जी ने अंग्रेजी के घातक परिणाम के प्रति सचेत किया था- 'अंग्रेजी शिक्षा में छात्र-छात्राओं को अपनी सभ्यता जंगली, अंध विश्वासी, व्यावहारिकता शून्य बनाकर पेश की जाती हैं। इस शिक्षा की रचना ही उसे उसकी परम्परागत संस्कृति से पृथक करने के लिए हुई। यदि शिक्षित युवकों में अनेक सम्पूर्णत: अराष्ट्रीयकृत नहीं होते तो कारण यही है कि उनमें संस्कृति का मूल गहरा है, जिसको निर्मूल करने वाली विपरीत शिक्षा भी पूर्णत: निर्मूल नहीं कर सकी।'

अंग्रेजों के आने से पहले संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं में समस्त वर्णों, वर्गों और सम्प्रदायों के लोगों को भारतीय ज्ञान-विज्ञान में दीक्षित किया जाता था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन एवं मध्यकाल में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- 'हिमालय से लेकर सेतुबंध तक सारे भारतवर्ष में धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्षों पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत हैं।[26] संस्कृत के माध्यम से भारतवासी परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। अंग्रेजों ने इस स्थिति को समझा और अनुभव किया कि भारत को सांस्कृतिक रूप से विखंडित करने का सबसे कारगर उपाय हैं भारतवासियों को संस्कृत से काट देना। मैकॉले का बहुचर्चित कथन इसका प्रमाण है- 'जो बंगाली पश्चिमी शिक्षा पायेगा उसे उन सब प्रत्ययों से निरक्ति हो जायेगी जिसे हिन्दू कहा जाता है। यदि आप ऐसी युवा पीढ़ी उत्पन्न करना चाहते हैं जो न केवल अपनी अस्मिता और विरासत से अनभिज्ञ हो बल्कि उसके प्रति हिकारत की भावना रख सके तब उसे संस्कृत की शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि यह एक ऐसी भाषा है जो एक भारतीय को अपनी अशक्त परम्परा और विशिष्ट अस्मिता के प्रति सचेत करती है, उसे अंग्रेजी की शिक्षा देनी चाहिए जिसके माध्यम से वह पश्चिमी मूल्यों में दीक्षित हो सके।[27] अंग्रेजों ने योजनाबद्ध ढंग से शिक्षा और ज्ञान की समस्त भारतीय संस्थाओं और स्त्रोतों को नष्ट किया। यह भारत के लिए भाषायी संकट ही नहीं था, इसने भारतवर्ष की सांस्कृतिक परम्परा को खण्डित किया। निर्मल वर्मा ने अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से पड़े घातक परिणाम की चर्चा करते हुए लिखा है-'अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा पद्धति ने धीरे-धीरे उन समस्त स्त्रोतों को सुखा दिया, जिनके द्वारा एक भारतीय अपनी आत्मा, अपनी अस्मिता , अपने अस्तित्व को सँजोता संभालता था।'[28] हिन्दी प्रदेशों में स्थिति और भी चिंतनीय बनी, क्योंकि अंग्रेजों ने समूचे जातीय जीवन में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी भाषा को शासकीय ढाँचे से अलग किया और उर्दू के सहज भारतीय संस्कारों को समाप्त कर उसे अरबी- फारसी के रंग में रंगने का प्रयास किया। यह एक प्रकार का ऐसा षड्यंत्र था जिसने अंततोगत्वा देश-विभाजन की भूमिका बनायी।

आजादी के बाद हमें अपनी भाषा को पूर्णत: अपना लेना चाहिए था। मध्यकाल में भाषा के क्षेत्र में समन्वय का जो कार्य संस्कृत करती थी, वह भूमिका निभाने में हिन्दी समर्थ थी, पर नेतृत्व वर्ग में भाषायी अस्मिता का सर्वथा अभाव था इस कारण अंग्रेजों द्वारा बनाया गया ढाँचा यथावत् रह गया। राहुल सांकृत्यायन ने स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू पर सही आरोप लगाया है कि भाषा के मामले में उनकी कोई स्पष्ट नीति नही थी।[29] राहुलजी ने तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना अब्दुल कलाम आजाद की निष्ठा पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया- 'मौलाना आजाद हिन्दी के कितने हिमायती है, इसे कहने की आवश्यकता नही। हिन्दी के भानुमति के कुनबे में यह मौलाना देश के दुर्भाग्य से ढेरी के साँप बनके बैठ गये।.... पहले मौलाना बाहर से जोर लगा रहे थे। अब शिक्षा मंत्रालय के हाथ में रहने से वह भीतर से छुरी भोंकने की पूरी

कोशिश कर रहे हैं।'[30]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व के अनिर्णय की स्थिति और ढुलमुल रवैये ने देश को भयावह संकट में डाल दिया, जिसका दुष्परिणाम अब दिखायी दे रहा है। अंग्रेजी अमरबेल की तरह फैल गयी हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में उसका वर्चस्व स्थापित हो गया हैं। इसने हमारी वैचारिक गुलामी को मजबूत किया है। अंग्रेजी के माध्यम से सोचने, समझने की और महसूस करने की जो जबरन आदत हमने डाली है उसके तहत हम भारतीय स्थितियों, दशाओं, वस्तुओं आदि को पहले हम अंग्रेजी में प्रस्तुत करते हैं फिर उनका भारतीय भाषाओं में रूपांतरण करते हैं। पहले हम किसी भी चीज का अंग्रेजी पर्याय खोजते हैं फिर उन अंग्रेजी पर्यायों के हिन्दी या भारतीय भाषाओं में पर्याय खोजते हैं। यह स्थिति सामान्य जीवन के विषयों से लेकर बड़े-बड़े विषयों तक हैं। विचित्र बात यह है कि जो व्यक्ति जिस भाषा में बोलना सीखता है अपने निकटस्थ व्यक्तियों से जिसमें संवाद करता है ओर जिसमें सहज रूप से महसूस करता और सोचता है उसी के प्रयोग में उसका विश्वास डगमगा गया है। निर्मल वर्मा इस बात पर खेद व्यक्त करते हैं कि आजादी के पचास वर्ष बाद भी देश में अंग्रेजी का प्रभाव बढ़ा हैं- 'मुझे अब शर्म आती है कि पचास वर्ष के बाद भी अंग्रेजी का प्रभुत्व हमारी राजनीति पर, हमारी सांस्कृतिक मनोदशा पर, हमारी सोच पर और चिंतन पर बढ़ा है।.... मुझे दु:ख होता है तो इसलिए कि हम हिन्दी को वह मौका नहीं दे सके जिसके आधार पर वह हमारे समाज में केन्द्रीय भूमिका निभा सके, जिसका आदर्श बनाया गया था।'[31] निर्मल वर्मा केवल हिन्दी ही नही वरन् सभी भारतीय भाषाओं में व्याप्त स्वावलम्बी चेतना के अभाव के लिए जिम्मेदार लोगों को कठघरे में खड़ा करते हैं- 'पचास पचपन वर्ष बाद भी हम भारतीय भाषाओं के भीतर उतनी स्वावलम्बी चेतना पैदा क्यों नहीं कर सके कि सृजन , चिंतन, संचार, दफ्तर आदि के कामों के लिए सीधे-सीधे अंग्रेजी पर निर्भर न करके वह सब सम्पन्न कर पा रुकने की स्थिति में होते? यह सबसे बड़ा संकट हैं, भारतीय संस्कृति के लिए और लज्जास्पद बात है। जहाँ चीन, जापान, वियतनाम जैसे देश भी अपनी भाषाओं के साथ संवाद कर पाते हैं, वहाँ आज भी हम अपने को अंग्रेजी पर निर्भर पाते हैं।[32]' इस स्थिति से मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। हमें अंग्रेजी के विषय में प्रचलित कई धारणाओं को तोड़ना होगा। सबसे पहले प्रचलित धारणा यह है कि अंग्रेजी ज्ञान का पर्याय है पर अंग्रेजी में बोलने वालों की पोल तब खुलती है जब वे अपने विचार देशी भाषा में व्यक्त करते हैं। यह भी बताने की आवश्यकता है कि अंग्रेजी विकास का पर्याय नहीं है। फ्रांस, जर्मनी, जापान, चीन, कोरिया, रूस आदि देशों ने अपनी अपनी भाषा में ही ज्ञानार्जन कर अपने देश का विकास किया है। जापान और कोरिया किसी भी यूरोपीय राष्ट्र से अधिक विकसित हैं। दूसरा मिथ यह है कि अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। वस्तुत: अंग्रेजी पूरे यूरोप की भी भाषा नहीं हैं। तीसरा मिथ यह है कि अंग्रेजी मौलिक चिंतन की भाषा है जबकि तथ्य यह है कि मौलिक चिंतन अपनी भाषा में ही संभव है। दूसरी भाषा में तो अनुवाद किया जा सकता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि अंग्रेजी के माध्यम से भारत कभी भी शक्तिशाली नहीं बन सकता। प्रख्यात चिंतक एवं विचारक वेदप्रताप वैदिक इस बात को बलपूर्वक कहते हैं कि यदि भारत की राजभाषा अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी होती तो भारत कभी का महाशक्ति बन गया होता। हमारे देश में निरक्षरता और बेकारी इसलिए बरकरार है कि अंग्रेजी अनिवार्य है। अंग्रेजी के जरिए मुट्ठीभर लोगों को नौकरियाँ जरूर मिलती है लेकिन वह लाखों लोगों को बेकार और निकम्मा बना देती है। अंग्रेजी के जरिए शिक्षा जितनी फैलती है उससे कई गुना ज्यादा

अशिक्षा फैलती हैं।... दुनिया के जो भी राष्ट्र महाशक्ति बने हैं वे स्वभाषा के जरिए बने हैं।'[33]

इस प्रकार वैचारिक स्वराज के लिए अपनी भाषा के प्रति गौरव बोध, अपनी परम्परा, संस्कृति, स्मृति के प्रति सजगता बहुत आवश्यक है। अपने केन्द्र और मूल आधार पर टिककर ही हम रचनात्मक विकास कर सकते हैं। अपनी परम्परा से संवाद एवं परम्परा का विकास जरूरी है। यदि अपनी परम्परा के प्रति संशय हो तो उसे जिज्ञासा में बदलना चाहिए संशय धार कुंद करने वाला नहीं होना चाहिए। पर आज की स्थिति यह है कि संशय का स्वरूप नकारात्मक हैं। सत्य और मूल्य की आज की हमारी कसौटियाँ भारतीय दर्शन और जीवन से मूल नहीं खाती दिखती। इस स्थिति को बदलकर ही हम वैचारिक रूप से स्वतंत्र समाज की रचना कर सकते हैं। 'अपने को समझने ओर पहचानने के लिए अपने पुराने समाज और जीवन के भौतिक तथ्य जानने भी आवश्यक है। बचे भारत की रचना तभी ठीक तरह से संभव होगी जब हम अपनी परम्पराओं, मान्यताओं , धारणाओं और स्वभाव को समझ पायेंगे।[34] दुविधा ग्रस्त मनः स्थिति में रहकर तो हम कहीं भी नहीं पहुँच पायेंगे। गहराई से आत्म स्मरण और मनन करना होगा, स्पष्ट निर्णय लेना होगा। हम भारतीयता को कैसे प्राण दें और उसका साहस तथा उत्साह वापस लायें, यह प्रश्न हम सभी के लिए विचारणीय है। हमें महर्षि अरविंद का वाक्य स्मरण रखना चाहिए कि *''अपने केन्द्र और निजी आधार को ढूँढना ही उद्धार का एक मात्र उपाय हैं।''*

टिप्पणी—

1. रामचन्द्र शुक्ल - चिंतामणि भाग -2 (काव्य में प्राकृतिक दृश्य) पृ. 33 नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण सं. 2035 वि.
2. वही चिंतामणि भाग-3 (स्वागत भाषण) पृ. 276, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 1985
3. निर्मल वर्मा- शब्द और स्मृति (अतीतः एक आत्म मंथन) पृ. 67-68 राजकमल प्रकाशन दिल्ली संस्करण १985
4. धर्मपाल- भारत की पहचान, पृ. 09
5. रमेशचन्द्र शाह- भूलने के विरुद्ध (अनुवादजीवी संस्कृति बनाम वैचारिक स्वराज का सवाल) पृ. 213-14, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1990
6. उद्धृत निर्मल वर्मा भारत और यूरोपः प्रतिश्रुति के क्षेत्र (लेखक की स्वतंत्रता और स्वधर्म) पृ. ११३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 190
7. ट्रेविलयन : लाईफ ऐण्ड लेटर्स ऑफ लॉर्ड मैकाले, वाल्यूम -1, पृ. 455
8. निर्मल वर्माः दूसरे शब्दों में (अस्मिता की खोज) पृ. 96-97, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1997
9. निराला रचनावली भाग-2, पृ. 403, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, सजिल्द संस्करण, 1992
10. निर्मल वर्माः आदि अंत और आरम्भ (धर्म और धर्म निरपेक्षता) पृ. 94, संस्करण 2001
1१. भगवानसिंहः भारतीय सभ्यता की निर्मिति (आमुख), पृ. 13, इतिहास बोध प्रकाशन, आजाद नगर इलाहाबाद, संस्करण 2004.
12. वहीं , पृ. 14.
13. रामविलास शर्माः भारतीय साहित्य की भूमिका (जातीय संस्कृति और साम्राज्यवाद), पृ. 340, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण १996.
14. श्रीमद्भगवद्गीता (गीताप्रेस, गोरखपुर) अध्याय-2, श्लोक 62-63.
15. रमेशचन्द्र शाहः भूलने के विरुद्ध (अनुवादजीवी संस्कृति बनाम वैचारिक स्वराज का सवाल) पृ. 223.
16. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेयः केन्द्र और परिधि (सभ्यता का संकट) पृ. १35, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण 1984.
17. निर्मल वर्माः दूसरे शब्दों में (निरंकुशता और दासता के बीच साहित्य) पृ. 77-78 भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1997.
18. धर्मपालः भारत की पहचान, पृ. 09.
19. निर्मल वर्माः भारत और यूरोपः प्रतिश्रुति के क्षेत्र (भारतीय जीवन की निराशाएँ) पृ. 58, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1991.
20. धर्मपालः भारत की पहचान, पृ. 107.
2१. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेयः केन्द्र और परिधि (भाषा और समाज) पृ. 136.

22. आदि, अंत और आरम्भ (पूर्व और पश्चिम) पृ. 65, संस्करण 2001.
23 सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय: सर्जना और संदर्भ केन्द्र और परिधि (भाषा और अस्मिता) पृ. 337, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, नयी दिल्ली, संस्करण १985.
24. निर्मल वर्मा: दूसरे शब्दों में (भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता) पृ. 3१, संस्करण 1997
25. महात्मा गांधी: हिन्दु स्वराजय, उद्धृत- नया ज्ञानोदय, दिसम्बर 2009, पृ. 109, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली।
26. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग- 10 (नयी समस्याएँ) पृ. 284 राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 198१.
27. उद्धृत निर्मल वर्मा: दूसरे शब्दों में (मानसिक गुलामी का शब्दकोश) पृ. 110.
28. वही (परम्परा का भारतीय संदर्भ) पृ. 87
29. राहुल सांकृत्यायन: राष्ट्रभाषा हिन्दी (हमारी भाषा) पृ. 6१ राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2002.
30. वही पृ. 58.
31. संसार में निर्मल वर्मा (सम्पादक-गगन गिल) पृ. 75, डे माधव पब्लिकेशन्स, पी-94 सेक्टर 63, संस्करण 2006.
32. वही पृ. 205 सम्पादक डॉ. सुधीश पचौरी
33 'वाक' अंक दो सम्पादक: (अप्रैल-जून 2007) पृ. १०१, वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली।
34. धर्मपाल: भारत की पहचान, पृ. 109.

संपर्क : प्रोफेसर: हिन्दी विभाग,
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर, विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

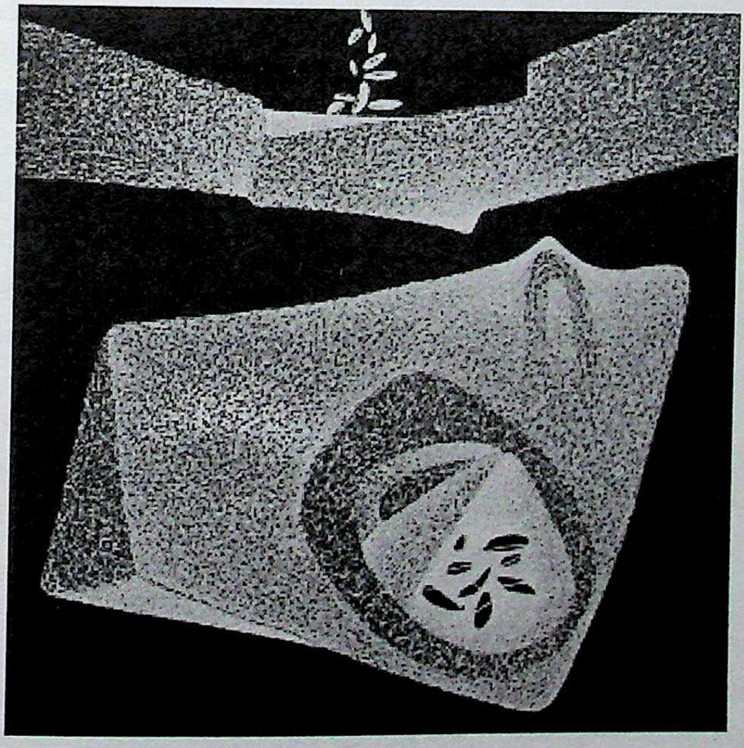

डॉ. नंदलाल मेहता `वागीश'

साहित्य में आस्था का स्वरूप

आस्था शब्द की सर्वांग बोधगम्यता के लिए इस शब्द के साथ-साथ श्रद्धा, आदर और विश्वास की अर्थ-मीमांसा भी आवश्यक है। आस्था शब्द के स्वरूप-वैशिष्ट्य के लिए यह कहा जा सकता है कि गुण-समूह, स्थान-सिद्धता, धर्म-दृष्टि, ग्रंथरूप, सिद्धांत-चिंतन, जीवन-पद्धति, इतिहास-स्मृति, परम्परा-संस्कार, आत्मानुभव व भावानुभूति के सत्यों तथा आप्त वचनों के प्रति मनुष्य मन की जो निष्कम्प निष्ठा होती है, उसे आस्था कहते हैं।

स्वभाव-संस्कार और धातुगत अर्थ-विचारण की दृष्टि से आस्था और साहित्य शब्द समगोत्रीय है। आस्था शब्द की मूल धातु 'स्था' है जो ठहरने, स्थित होने, स्थापित होने-करने आदि अर्थों में व्यवहृत होती है। साहित्य शब्द के मूल में जुहोत्यादिगण की 'धा' धातु है, जो धारण करने, संभालने स्थापित रखने-करने आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार 'स्था' और 'धा' धातु के अर्थ-संस्कार में कहीं-न-कहीं धारण करने की मनस्क्रिया निहित है। दोनों शब्द भाव-क्षेत्रीय हैं, एक भाववाचक संज्ञा है तो दूसरा शब्द भावमूलक संज्ञा है। साहित्य में आस्था के स्वरूप और इनकी अर्थभाविक परस्परता के सम्यक बोध के लिए इन दोनों शब्दों की संरचनागत संविधि को जान लेना आवश्यक है। आस्था शब्द संरचना-रूप की आधारभूत धातु है-स्था। आ उपसर्ग पूर्व स्था धातु में अङ् प्रत्यय प्रयोग से आस्था शब्द बनता है। हिंदी-संस्कृत दोनों भाषाओं में प्रचलित अर्थ-दृष्टि से यह शब्द अधिक प्राचीन नहीं है। संस्कृत कोश ग्रंथों में मूल शब्द आस्थानम् और आस्थानी हैं, जो सभा और उपाय आदि अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। अमरकोश में कहा गया है कि आस्थानीयत्नयोरास्था अर्थात् सभा का यत्न (विचारित अंश) ही आस्था है। वस्तुत: अमरकोश में ही सभा के नौ पर्याय रूपों में आस्थान और आस्थानी, दोनों शब्दों का समान भाव से उल्लेख है। स्पष्ट है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से आस्था शब्द सभा और तद्गत यत्न-धृत विचार से जुड़ा है, इसलिए आस्था

शब्द के अर्थ आयामों में एक आयाम स्थानक-आलम्बनत्व का भी है। इसी संदर्भ में इतना और ध्यातव्य है कि जिस भाव-समुच्चय अर्थ में आस्था शब्द आज प्रयुक्त होता है, वह एक प्रकार से इस शब्द का अर्थ विस्तार है। आस्था शब्द के कोशगत अर्थ है-श्रद्धा, आदर, विश्वास (मूल्य धारणा आदि में), विचार, आशा, टेक, सहारा, आलम्बन, स्थिति, प्रयत्न, अवस्था, रहने का साधन, सभा, स्थान आदि। आस्था शब्द के इन सभी अर्थों को एकसूत्रता की दृष्टि से विचारित करते हुए यदि इस शब्द के स्थूल अर्थों की पृष्ठभूमिक सूक्ष्मता को शब्द की भाववाची अर्थसत्ता में समाकलित कर लिया जाए तो प्रतिनिधिक दृष्टि से आस्था शब्द के प्रमुख विचारणीय अर्थ होंगे-श्रद्धा, आदर, विश्वास।

वस्तुतः आस्था शब्द की सर्वांग बोधगम्यता के लिए इस शब्द के साथ-साथ श्रद्धा, आदर और विश्वास की अर्थ-मीमांसा भी आवश्यक है। आस्था शब्द के स्वरूप-वैशिष्ट्य के लिए यह कहा जा सकता है कि गुण-समूह, स्थान-सिद्धता, धर्म-दृष्टि, ग्रंथरूप, सिद्धांत-चिंतन, जीवन-पद्धति, इतिहास-स्मृति, परम्परा-संस्कार, आत्मानुभव व भावानुभूति के सत्यों तथा आप्त वचनों के प्रति मनुष्य मन की जो निष्कम्प निष्ठा होती है, उसे आस्था कहते हैं। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण आस्था शब्द अध्यात्म-श्रेणिक वर्ग में आता है। श्रद्धा, धर्म और लोक सीमांत का शब्द है। श्रत् उपसर्ग पूर्व 'धा' धातुपरान्त अङ्+टाप् प्रत्यय से व्युत्पन्न श्रद्धा शब्द सामान्य रूप से आस्था का पर्याय है। आस्था और श्रद्धा दोनों का सेतु-सूत्र निष्ठा भाव से जुड़ा है, किंतु श्रद्धा भाव वैयक्ति निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में अपनी अर्थ-संगति में अधिक फलित होता है। जिन मानवीय गुणों में हमारी आस्था हैं, उन्हें किसी व्यक्ति-आलम्बन में मूर्तिमन्त हुआ पाकर हम उस व्यक्ति पर श्रद्धा करने लगते हैं। वह व्यक्ति हमारे लिए श्रद्धेय हो जाता है। श्रद्धा में पूज्यभाविता है। जहाँ आस्था होगी, श्रद्धा होगी वहाँ आदरभाव भी अवश्य होगा। अंतर इतना है कि श्रद्धानिष्ठ आदरभाव प्रत्यक्ष और प्रकट होता है, जबकि आस्थानिष्ठ आदरभाव का प्रकट स्थिति में होना अनिवार्य नहीं है। आस्था और श्रद्धा शब्द आत्मिक भाव से जुड़े हैं किंतु विश्वास शब्द आत्मिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में व्यवहृत होता है। आत्मिक क्षेत्र में यह शब्द निष्ठा के अधिक निकट है और किंचित् अध्यात्म-मुखीन है। इसी अर्थ में यह शब्द आस्था के गुण स्वरूप में परिगणित होता है, किंतु व्यवहार क्षेत्र में यह शब्द 'संदेह' का प्रतिलोम है और इसलिए नीतिशास्त्र का विषय भी बन जाता है। वस्तुतः विश्वास शब्द परा और अपरा, उभय प्रकृति का है। आत्म, पर, कर्म, भाव, नीति, पद्धति, क्रिया रूप आदि अनेक क्षेत्रों में यह शब्द अर्थ-प्रयोज्य स्थिति प्राप्त कर लेता है। उक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि एकाधिक गुण-सम्पूरकता से सम्भृत आस्था पद एक ऐसा मूल्यवाची शब्द है, जो मानवता को धारित करने की सकारात्मक ऊर्जा से सम्पन्न है।

इसी क्रम में 'साहित्य' शब्द के भाव-संस्कार की सटीक समझ के लिए इस शब्द की निष्पादक धातु पर भी विचार करना आवश्यक है। 'धा' धातु में क्त प्रत्यय प्रयोग से (धा को 'हि' होकर) हित शब्द निष्पन्न होता है। इस 'हित' शब्द से पूर्व उपसर्गरूपेण 'स' प्रयोग करने से सहित शब्द बनता है, जिसका अर्थ है-हित सहित। दिवादिगण की 'सह्' धातु से भी क्त प्रत्यय प्रयोग से भी सहित शब्द व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है-सहगत, साथ-साथ। इस प्रकार सहित शब्द का निर्वचन दो आधारों पर हो सकता है-1. सहभाव से संयुत सहित, 2. हितभाव से संयुत सहित। परिणाम-संयोग से सहित शब्द के दोनों रूप लोकमंगल से जुड़े हैं। समभाव का अर्थ है-साहचर्य, सहयोग, परस्परता की पूरक दृष्टि। अभिप्राय यह है कि साहित्य में शब्द और अर्थ, कथ्य और शिल्प, भाव और विचार, लोक और शास्त्र, व्यष्टि और समष्टि, यथार्थ और आदर्श, अतीत और भविष्य तथा मूर्त और अमूर्त का साहचर्य घटित होता है। हित भाव-धारक 'साहित्य' शब्द तो प्रत्यक्ष ही लोक-मांगलिकता से जुड़ा है। यह तथ्य प्रकट है कि मनुष्य समाज की सुख-शांति और सद्भावना, मानवीय मूल्यों

के आचरित रूपों पर ही टिकी है। स्पष्ट है कि अपनी संरचनात्मक निर्मिति में भी 'साहित्य' शब्द लोकबद्ध हितैषिता का कारक है। साहित्य एक ओर पाठक को राग-द्वेष की निजता से मुक्त कर उसे सामान्य मानवीय भावभूमि से जोड़ता है तो दूसरी ओर समस्त दृष्टि में व्याप्त एकात्म सत्ता से तादात्म्य-अनुभूति के अनेक प्रसंग जुटाकर पाठक के हृदय-रस को पुष्ट करता चलता है।

तात्त्विक दृष्टि से कहा जाए तो यह कि साहित्य अपने स्वभाव से ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक सर्वोत्तम रूप है। यूँ सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के कई रूप और भी हैं, किंतु उनमें से अधिसंख्य दिक्ककालबद्धता से मुक्त नहीं है। अक्षरभाविता के कारण साहित्य न केवल दिक्ककालबद्धता से मुक्त है, बल्कि कालातिक्रामी भी है। काल के अतिक्रमण की शक्ति शब्द को प्राप्त है। इसलिए आचार्य भर्तृहरि ने शब्द के लिए 'अनादिनिधन' संज्ञा पद प्रयुक्त किया है। यह साहित्य ही है, जिसमें शब्द अपनी उत्कृष्ट सर्जनात्मकता में व्यक्त होता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से साहित्य परोक्ष विधा है और मनुष्य की मनोरचना पर जितना प्रभाव परोक्ष अभिव्यक्ति का होता है, उतना प्रत्यक्ष का नहीं। यह स्वयं सिद्ध है कि अपने संवेद्य वैशिष्ट्य के कारण मानवीय भाव-परिष्करण का सामर्थ्य जितना साहित्य में है उतना किसी प्रकार के शास्त्रीय उद्बोधन में नहीं।

अपनी संवेदनात्मक मनोभूमि के कारण साहित्य आस्वाद्यमूलक है, न कि व्याख्यामूलक। इसलिए साहित्य में उपदेशण ग्राह्य नहीं, अपितु रसात्मक भावन ग्राह्य है। साहित्य में विचार को भी भावसिद्ध होकर आना पड़ता है अगर ऐसा नहीं होता तो विचार दर्शन क्षेत्र का विषय हो जाता है। कोरा विचार साहित्य की सर्जनात्मकता को रास नहीं आता। ऐसा नहीं है कि साहित्य में नितांत विचारबाह्यता की स्थिति है, अभिप्राय यह है कि विचार का आयत्त अनुभव जब तक रचनाकार के अपने सत्य के रूप में परिणत नहीं होता, तब तक वह साहित्य की सर्जनात्मक पात्रता प्राप्त नहीं कर सकता।

'साहित्य' शब्द की निष्पादक 'धा' धातु से निर्मित धार्यता संज्ञा पद साहित्य शब्द के स्वभाव को समझने में पर्याप्त सहायक है। साहित्य की धार्यता मेघसन्निभ होती है, जैसे मेघ, धरती के सर-सरोवर-जलाशय और सागरों से मलिन-क्षार युक्त पानी को ग्रहण कर प्रतिदान रूप में उसे ही शीतल, स्वच्छ और सुंदर जलधार में परिणत कर, सृष्टि को प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी स्थूल और असुंदर स्थितियों-प्रतिस्थितियों की द्वन्द्वमूलकता को सुपाठ्य-सुश्रव्य रचनात्मकता में परिणत कर पाठक को रसात्मक अनुभूतियों से भर देता है। साहित्य परिप्रेक्ष्य में यह धार्यता दो स्तरों पर चरितार्थ होती है। एक स्तर है-देशकालबद्धता का और दूसरा स्तर है- मानवीय भावानुभूतियों सहित सकल सृष्टि-चिंतन का। दोनों स्तरों की धार्यताएँ मनुष्य की संवेदनशील प्रवृत्ति से जुड़ी हैं, इसलिए दोनों लोकमांगलिक हैं। साहित्य के सर्जनात्मक शब्द की व्याप्ति से स्पर्शित होकर देशकालबद्ध संवेदनाएँ भी पाठक को उसके व्यष्टि केन्द्र की सीमितता से मुक्त कर उसे समस्त मानवीय भाव जगत से जोड़ने का सामर्थ्य रखती हैं। इस दृष्टि से देशकालबद्ध सांवेदनिक विस्तार भी साहित्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित ग्राह्यता प्राप्त करता रहा है।

जहाँ तक भारतीय मन का सम्बन्ध है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' भाव का अभ्यस्त उसका संस्कारी स्वभाव तो अनादिकाल से समस्त सृष्टि के साथ एकात्म चेतना में ही शब्दभावित होता आया है। साहित्य संबंधी भारतीय मन की इस विवेक संगत कसौटी के समक्ष यूरोपीय कलावादियों के मूल्य-निरपेक्ष मतवाद और मार्क्स की बौद्धिक गुलामी करते आ रहे इस देश के कथित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के वर्ग-विद्वेषी साहित्यिक सिद्धांत स्वतः ध्वस्त हो जाते हैं, तो भी गत सात दशकों से इन कामनिष्ठ (कम्युनिस्ट) बुद्धिजीवियों द्वारा साहित्य को उसकी उच्चतर भाव भूमिका से हठात् खींचकर उसे मात्र वर्ग-विद्वेषण की प्रचार सामग्री में परिणत कर देने का षडयंत्र जारी है। साहित्य की मूलधारा को विकृत करने के लिए

इन स्वयंभू प्रगतिशीलों ने सबसे पहले शब्द को उसकी लयात्मकता से विच्छिन्न किया। ऐसे में कुछ काल के लिए हिंदी भाषा का काव्य क्षेत्र क्षत-विक्षत हो उठा। इससे अनेक नए कवि दिग्भ्रमित हुए। इतना ही नहीं छल-छद्म से शिक्षा पाठ्यक्रम-समितियों में प्रवेश पाकर इन धृतराष्ट्रपंथी बुद्धिजीवियों द्वारा भारतीय इतिहास को विकृत करने के लिए आस्थेय पात्रों को संदिग्ध घोषित किया गया। कथित प्रगतिकामियों ने भारतीय और विशेषकर हिंदी साहित्य धारा की समग्र निरंतरता को विखंडित करने के षडयंत्र के तहत दल वर्ग के आवरण में साहित्य सृजन को ही जातिगत खेमों में वर्गीकृत कर दिया। भारतीय समाज-संरचना को समझने की आयातित सोच की अपनी अपंगता को छिपाने हेतु, इन बुद्धिजीवियों ने अपने पक्ष के लिए आदरणीय और कल्पित विरोधी-पक्ष के लिए तिरस्करणीय शब्दावली गढ़ ली है। यथार्थवाद की आड़ में संस्कृति वाचक शब्दों के स्थान पर अप संस्कृति-धारक शब्दों को प्रतिष्ठित करने का इनका कुत्सित प्रयास हिंदी साहित्य के इतिहास में दर्ज है। दया, करूणा, स्नेह, वात्सल्य, अहिंसा, धैर्य, त्याग, सहिष्णुता, औदार्य, संयम और सर्वभूतहितैषिता के लोक हितकारी सांस्कृतिक भावों को साहित्य रचना से विस्थापित करने और वर्ग संघर्ष के नाम पर हिंसा, क्रोध, असूया, असंयम, असहनशीलता, दुराग्रह, धृष्टता, विखंडन-विध्वंस और अनास्थामूलक शब्दों व अपमूल्यों को स्थापित करने वाले लेखन को इन्होंने क्रान्ति और प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा दी है। साहित्य जैसी सांस्कृतिक विधा में इन कामनिष्ठों का रचनात्मक योगदान बस इतना ही है। इन तर्कमूढ़ लिक्खाड़ों को यह समझ में नहीं आया कि राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र की भाविक और भाषिक संरचनाएँ अलग-अलग होती हैं। साहित्य के संस्कृतिमूलक स्वभाव की पुन:प्रतिष्ठा के लिए शब्द के स्तर पर ऐसे धतकर्मियों का प्रतिकार करना आवश्यक है।

अवधेय है कि साहित्य-सृजन की अपनी एक अंतरंग आस्था है, जो उसकी सर्जनात्मकता में ही स्वरूपगत होती है। साहित्य में आस्था की स्वरूप स्थिति पर दो प्रेक्ष्यकोणों से विचार किया जा सकता है-आस्था की बहिरंग स्थिति और आस्था की अंतरंग स्थिति। साहित्य रचना में किसी विशिष्ट मत पंथ, आचार-विचार, रीत-पद्धति, दृष्टि-दर्शन और स्थानकता आदि के संकेत-संदर्भ, आस्था की बहिरंग स्थिति के कारक है। इन संदर्भों से मुक्त और इन से परे साहित्य की कारयित्री शक्ति में अंगीभूत जो मानवीय मूल्यगत चेतना है, उसे साहित्य की अंतरंग आस्था कहा जाता है। आस्था की यह अंतरंगता साहित्य के स्वभाव (हितभाव) और उसकी स्वरूपता में निहित है। साहित्य शब्द की संरचना क्योंकि 'हित' शब्द से स्वरूपित होती है, इसलिए लोकहितैषित साहित्य का स्वभावज गुण है। यह लोकहितैषिता कहीं बाहर से घटित होने वाली घटना नहीं, अपितु भाव स्तर पर अपने ही भीतर परहित-कामना का जो स्रोत फूटता है, वही सच्ची लोकहितैषिता है। निजी राग संकुलता से मुक्त होना ही चित्त की 'साधारणीकृत' अवस्था है। साहित्य में निहित आस्था के सम्यक भावना से ही पाठक इसी मनोलोक तक पहुँचता है। ध्यातव्य है कि रचना की सर्जनात्मक श्रेष्ठता का यही सहज स्वभाव है और यही साहित्य के अन्तस की आस्था है। साहित्य के इसी स्वभाव की अनुकूलता में सृष्टि सुख का विधान करने वाले मनुष्य के भाव-विचार-गुण-कर्म क्रिया-प्रतिक्रियात्मक द्वन्द्व-मंथन से रचना का रूप ले लेते हैं। नीति क्षेत्र में जिसे संस्कृति कहा गया है, वही साहित्य की अंतरंग आस्था है। साहित्य की यही अंतरंग आस्था सर्जन-प्रक्रियाकाल में संस्कृति और विकृति की द्वन्द्वात्मक स्थितियों से गुजरती हुई परिणामत: संस्कृति के प्रतिष्ठान का कारक बनती है। आस्था की यह अंतरंगता साहित्य के रचनात्मक स्वभाव और उसकी स्वरूपता में फलित होती है।

संपर्क : 1218 सेक्टर-4, गुड़गाँव, हरियाणा

डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि'

समकालीन कला में प्रतीकों का अभिप्राय

भारत विश्व के सभी देशों में अपनी अलग पहचान रखने वाला अलग राष्ट्र है, जिसकी शिक्षा, संस्कृति, परम्पराएँ, संस्कार, व्यवहार, ज्ञान, विचार एवं समस्त कलाएँ विश्व के लिए धरोहर है। यहाँ की संस्कृति और कलाओं का ज्ञान प्राचीन काल से ही वर्तमान काल पर्यन्त अनेक जिज्ञासुओं और कला पारखियों को निरंतर आकृष्ट करता रहा है। डॉ. इकबाल ने सत्य ही हिन्दुस्तान की प्रशंसा में लिखा था-

'यूनान, मिश्र, रोमाँ मिट गये जहाँ से,
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
दौरे रहा है दुश्मन सारा जहाँ हमारा।'

आज विश्व विज्ञान की खोज में निरंतर लगा हुआ है, जिसके स्वरूप का वर्णन हमारे वेदों, पुराणों में कहीं न कहीं अवश्य प्राप्त होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि विज्ञान, गणित, ज्योतिष, साहित्य, खगोल, इतिहास, चिकित्सा, संसार के साथ-साथ कला के क्षेत्र में हम सर्वोपरि थे, जिसका उल्लेख सर्वप्रथम विष्णुधर्मोत्तर पुराण में उल्लिखित मिलता है। जिसमें चित्रकला को सभी कलाओं में सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार से पर्वतों में सुमेरू, पक्षियों में गरुड़, मनुष्यों में राजा है-

'यथा सुमेरुः प्रवरो नगानाम यथाण्डजानां गरुणः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितिस्तथा, कलानामिह चित्रकल्प।।'

इतना ही नहीं भारतीय चिंतन कला के क्षेत्र में इतना प्रगतिशील था कि इसे भारतीय मनीषियों ने समाज और जीवन से जोड़कर कला को

लोककला जनजीवन के हृदय को उकेरती हैं। जिन कलाओं में निपुणता, व्यक्ति के अभ्युदय तथा सर्वांगीण विकास की शक्ति सन्निहित होती है। ये कलाएँ शास्त्रीयता से सम्बद्ध और असम्बद्ध होती हुई सामान्य द्वारा अंगीकृत और लोक रुचि तथा उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनती हुई लोककला के प्रवाह के रूप में अग्रेसित हो जाती है। इन कलाओं के स्वरूप में लोक चित्रकला के रूप दिखाई देते है। प्रायः ये आनुष्ठानिक चित्रकलाएँ जीवन को एक नई दिशा देने के लिए मांगलिक अवसरों और पर्वों के विभिन्न स्वरूपों को अनेक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।

आगे बढ़ाया, यहाँ कला ने हमें जीवन जीने की कला से भी जोड़ा है और सिखाने की कला भी बताती है। 'कला' शब्द अपने आप ही जीवन के सभी क्षेत्रों को अन्तर्भुक्त कर लेता है, इसलिए चिंतकों ने भारतीय पुरुषार्थ में कला को सम्बद्ध करते हुए इसी धर्मग्रंथ (विष्णुधर्मोत्तर पुराण) में डिम-डिम घोष किया है। जिस धर्म में कलाओं में श्रेष्ठ चित्रकला प्रतिष्ठित होती है, वहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और मांगलिकता की प्राप्ति होती है।

'कलानं प्रवरं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मागल्यं प्रथमं चैतद्, गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।'

इतना ही नहीं, वात्स्यायन ने भी जीवन और संतति से सम्बद्ध करते हुए अपने कामसूत्र में 64 कलाओं का व्याख्यान करके इसे 5 वर्गों में विभाजित किया है। जिसमें सर्वप्रथम स्थान चारुकला का अभिधान दिया है। वह पौराणिक नामकरण समकालीन कला का उत्कृष्ट स्वरूप ललित कला ही कहलाती है। आधुनिक कलाविदों द्वारा चित्रकला के अनेक प्रभेद करते हुए उनकी मीमांसा द्वारा विविध अनुशीलन किए जा चुके हैं। जिनके अन्यान्य नाम विविध स्वरूपों के साथ अभिहित कर सकते हैं चित्रकला, लोककला, संयोजन कला इत्यादि। भारत में सदैव एक साथ दो-दो परम्पराएँ प्रवाहित रहती हैं। एक दिशा में भारत की शास्त्रीय परम्पराएँ चलती रहीं तो दूसरी ओर लोक परम्पराएँ भी गतिमान रहीं जबकि शास्त्रीयता अपने विशिष्ट संस्कारों से युक्त होकर चलती हैं। लोककला जनजीवन के हृदय को उकेरती हैं। जिन कलाओं में निपुणता, व्यक्ति के अभ्युदय तथा सर्वांगीण विकास की शक्ति सन्निहित होती है। ये कलाएँ शास्त्रीयता से सम्बद्ध और असम्बद्ध होती हुई सामान्य द्वारा अंगीकृत और लोक रुचि तथा उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनती हुई लोककला के प्रवाह के रूप में अग्रेसित हो जाती है। इन कलाओं के स्वरूप में लोक चित्रकला के रूप दिखाई देते है। प्रायः ये आनुष्ठानिक चित्रकलाएँ जीवन को एक नई दिशा देने के लिए मांगलिक अवसरों और पर्वों के विभिन्न स्वरूपों को अनेक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। उसी प्रकार हमारे यष्टि श्रृंगारिक कलाएँ विभिन्न रूपों मेंहदी, महावर, गोदना के माध्यम से अलंकृत करते हुए विभिन्न प्रतीकों के रूपों में कुछ कह देते हैं, इसी प्रकार हमारी लोककला, चित्रकलाएँ, वैवाहिक आदि शुभ अवसरों को शुभ सम्पन्न कराने के लिए अनेक प्रकार के प्रतीकों के द्वारा सुसज्जित लोक शैलियाँ निर्मित की जाती हैं। जिसे भूमि, भित्ति अलंकरण से सारे परिवेश को सौंदर्यकला मूक स्वरूप प्रदान करता है जिन्हें हम आजकल लोकचित्र कला के नाम से जानते हैं। ऐसी शैलियों का सूत्रपात विष्णुधर्मोत्तर पुराणों में धूलि चित्र के नाम से किया जा चुका है। वह पौराणिक काल में जो अविधान दिया गया है उसका मूल स्वरूप मुगलकाल में भी दिखाई देता है। जो एक साथ मुगलकालीन भारतीय जीवनकला में व्यवहृत है। उसे त्रेतायुगीन परिवेश में जोड़ते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस में भूमि और भित्ति अलंकरण शैली की प्रथा को लोक चित्रकला से सम्बद्ध करते हुए हृदयानुरंजक वर्णन किया है-

'चौकइ चारु सुमित्रा पूरी।
मणिमय विविध कान्ति अति रुरी।।'

इस प्रकार मानस की यह चौपाई भारतीय भू-अलंकरण कला की परम्परा को सशक्त रूप में अनुमोदित करती है। जिसमें भारतीय ललनाओं के हृदय में चित्रांकनों की अभिरुचि को प्रतिबिंबित करती है। प्रायः भारतीय संस्कृति में प्रागैतिहासिक काल से भूअलंकरण की कलाओं का प्राचीनतम प्रमाण प्राप्त होता है। इस क्रम में धरती का पूजन, प्रकृति की वेदना, शक्ति का स्तवन, धार्मिक मान्यताओं और प्रतीकों को सम्प्रेषित करता है। निश्चित रूप से इसका स्वरूप स्थानीय स्तर पर प्रचलित लोक मान्यताओं, लोक रुचियों पौराणिक आख्यानों, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों, रीति-रिवाजों, पर्व-उत्सवों आदि के आलेखन शैली को अभिव्यक्त करता है। ऐसे उपादानों के प्रतीकों का स्वरूप कहीं पुष्प रूपी सज्जा, कहीं मिट्टी के रंग, गेरु की गैरिक छटा और गोबर के श्रृंगारिक प्रतीकों में जनजीवन मैं व्याप्त व अन्तर्निहित भावनाएँ हमारे लोक संस्कृति का पुनराख्यान है जिन अभिप्रायों

और प्रतीकों को विभिन्न सौंदर्यों में अभिव्यक्त करते हुए नया आयाम दिया, जिन्हें शास्त्रीय धरातल पर विशिष्ट स्वरूपों में जानते हैं। किंतु लौकिक परंपराओं में वहाँ अभिज्ञान न होते हुए भी प्रचलित देखते हैं। हमारे शास्त्र में वर्णित बिन्दु जहाँ शक्ति की सम्पूर्णता, विस्तृत अनंत आकाश का प्रतीक है। वहीं वृत्त विस्तार और वायु का द्योतक है। इसी प्रकार त्रिकोण को त्रिकाल त्रिदेव, त्रिशक्ति और त्रिगुण का प्रतीक मानते हैं। तो चक्र भूत वर्तमान और भविष्य का प्रतीक और काल का चक्र माना गया है। उसी प्रकार शंख ओंकार के ध्वनि और प्रणव की द्विगुणात्मक शक्ति का द्योतक है। वैसे ही स्वास्तिक अखण्ड ब्रह्माण्ड की ऊर्जा शक्ति, चार दिशाओं के लोकपालों का प्रतीक है। तो द्वीप हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाने और अंधकार से संघर्ष करने की प्रेरणा का प्रतीक है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों में अश्व गति का प्रतीक होते हुए भी इन्द्रियों का भी प्रतीक है तथा शक्ति का भी इसी प्रकार वृषभ केवल पौराणिक शंकर का वाहन ही नहीं अपितु भारतीय कृषि का आधार स्तम्भ और अविवाहित पुरुष सौष्ठव का भी प्रतीक है। श्वान भैरव का वाहन है और यह जीवन की कर्तव्य परायणता का भी प्रतीक है। हंस जहाँ हमारी आत्मा का एकाकी प्रतीक है वहाँ वह नीर क्षीर विवेक का बौद्धिक प्रतीक भी है। ऐसे ही मृग विश्वसनीयता का प्रतीक है और कक्षप-स्वास्थ्य, दीर्घायु का प्रतीक है। सर्प-कुण्डलिनी योग का प्रतीक है उलूक-बुद्धिमत्ता का प्रतीक है। मयूर-सौंदर्य का प्रतीक है। मीन-प्रेम और दाम्पत्य का प्रतीक है। शुक-संदेश वाहक का प्रतीक, आदि ये सभी हमारे जीवन और समाज से सम्बद्ध है। पशु-पक्षियों के प्रतीक हमारे अंदर संवेदना और सहानुभूति की संचेतना का संचरण करते हैं तो वैसे ही वनस्पतियों के रूप में आम-पवित्रता का प्रतीक है। बाँस-वंश वृद्धि का प्रतीक है, दूर्वा-स्त्रियों के सुहाग का प्रतीक है। नारियल-मनोकामना सिद्धि का प्रतीक है, अशोक-चिर यौवन का प्रतीक है। केला-संतति कामना का प्रतीक है, नीम-शुद्धिकरण का प्रतीक है, लताएँ-संख्य भाव का प्रतीक है। पद्म-असम्पृक्तता का प्रतीक है आदि भारतीय-शास्त्र और लोकजीवन दोनों समानान्तर रूप से व्यावहारिक होते हैं। ऐसे विभिन्न रंगों के प्रतीक हमारे जीवन में अनेक भाव और अर्थवत्ता रखते हुए अनेक संकेत प्रदान करते हैं। पीला-जहाँ पवित्रता और वैभवशीलता का द्योतक है। वहाँ काला-अमांगलिकता का प्रतीक है। श्वेत-शांति और सत्यप्रदायी भाव का प्रतीक है। वहीं रक्ताभ-जीवन सत्य का प्रतीक माना जाता है। हरीतिमा हमारी उत्फुल्लता का द्योतक है तो नीलिमा हमारी विशालता का प्रतीक है। इस प्रकार से जीवन के विविध विषयों, संदर्भों और जीवन के संयुक्त सम्पूर्ण देश के विभिन्न प्रांतों में इन प्रतीकों का स्वरूप विभिन्न अभिधानों और अभिप्रायों के द्वारा प्राचीन काल से समकालीन सभ्यपर्यंत अभिव्यक्ति होता दिखाई देता है जिसे हम आज बंगाल की लोक चित्रकला की शैली अल्पना के नाम से जानते हैं। जिसे उत्तर प्रदेश की जनता सोनरखना कहती है। यह क्रम उत्तर के हिमालय प्रदेश में लिखनू और उत्तरांचल में ऐपण के रूप में जाना जाता है तो पश्चिमोत्तर प्रदेशों राजस्थान में मांडणा, मालवा में संझा, गुजरात में सातिया, पीथोरा के नाम जानते हैं। मध्य भारत बिहार में इसे अरिपन, उड़ीसा में चितआव, साओरा, छत्तीसगढ़ में भित्तिसज्जा और पूजा आलेखन मध्यप्रदेश में गोड़ चित्रकला व चौक पूरना भोजपुर तथा बुन्देलखण्ड में कोहबर के नाम से जानते हैं। महाराष्ट्र की परम्परा में आधुनिक अल्पना को रंगोली के नाम से जाना जाता है जिसका दूसरा नाम वर्ली भी है। इसका विभिन्न नामकरण दक्षिण भारत के अलग-अलग प्रांत में होता है। तमिलनाडु में कोलम, कर्नाटक में चित्रारा, केरल में पुक्कलम, और आन्ध्रप्रदेश में मुगू के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार से रंगोली और अल्पना के रूप में प्रचलित समकालीन लोक चित्रकला का स्वरूप पौराणिक प्रतीकों से सम्बद्ध है इसका उल्लेख प्राचीन काल में भी प्राप्त होता है और जिसका स्वरूप वर्तमान लोक जीवन से जुड़ा है।

संपर्क : *असि. प्रो. हिन्दी विभाग,*
जे.आर.एच. विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.)

सुरेन्द्र अंचल

लड़की का जन्म

आज वह बहुत खुश है।

अपनी नीवार की खटियाँ पर बैठी, मोटे काँच के चश्में से सब देख रही है।

उसके पोते के नौ दिन पहले लड़की हुई है। उस कन्या का आज नामकरण समारोह सम्पन्न हो रहा है।

जमाना कितना बदल गया है।

लड़की का जन्म। वह भी राजपूत ठिकाने में! बात उठे वही से झूठी। किंतु ये बातें तो अब पुरानी हो चुकी हैं। कोख से बाहर यदि लड़की आती थी तो अमल की किरची चटाकर चुपचाप 'रामनाम सत्य' कर दिया जाता या फिर दाई मां का काम था कि उसका टेटुवां दबा दें और वह अच्छा सा इनाम पाने की अधिकारिणी बन जाए।

हाँ, उसने भी कितनी नवजात कन्याओं को 'अमल की किरची' दी थी या दिलवाई थी। किस-किस की बातें करें अब तो ऐसी बातों पर कोई विश्वास नहीं करेगा।

आज वह बहुत खुश है।

उसके पोते के नौ दिन पहले ही लड़की हुई है उस लड़की का आज नामकरण समारोह हो रहा है।

जमाना कितना बदल गया है।

जी हाँ! अब तो कन्याओं के जन्म पर शोक नहीं उत्सव मनाए जाने लगे हैं और वह भी ढोल-ढमाके के साथ! वाह जोग माया। धन्य है!

अब तो कन्याओं के जन्म पर शोक नहीं उत्सव मनाए जाने लगे हैं और वह भी ढोल-ढमाके के साथ! वाह जोग माया। धन्य है! समय का रथ तो चलता ही रहता है-धर कूंचा धर मंजला। ठाकर गए, ठिकाणे गए। रोब गया, रुतबा गया। वे घातें गई, बातें गई और आज वह अपनी पड़पोती के जन्म पर नामकरण उत्सव देख रही है।

समय का रथ तो चलता ही रहता है-धर कूंचा धर मंजला। ठाकर गए, ठिकाणे गए। रोब गया, रुतबा गया। वे घातें गई, बातें गई और आज वह अपनी पड़पोती के जन्म पर नामकरण उत्सव देख रही है। वह विधवा है। बूढ़ी डोकरी है। काले कपड़े पहन रखे हैं, सो उसका नजदीक जाना, अपशुकन माना जाता है, किंतु अपनी कोठरी के बाहर मचली पर बैठी दूर से ही मोटे काँचों के चश्में से सब देख रही है।

हाँ, अब वह पड़दादी है। तन तो झरझर हुआ सो हुआ, मन में भी उमंगे नहीं रही। यह युग तो निरंतर नवयौवन सा लहक रहा है। वह इस जमाने के साथ एक कदम भी अब नहीं चल सकती-हाँ इसके चाल-ढाल बदलते रंगों और करवटों को वह देख सकती है।

अब उसे करना ही क्या है? बहुत कुछ किया है। तीन बीसी की उम्र में भी वह सूर्योदय से पूर्व पांच सेर धान धम्मड़-धम्मड़ पीस कर ही उठती है। अब कौन पीसे! सीधा पीसा पिसाया आटा लाकर खाते हैं। घट्टियों को पूछता ही कौन है? अरे भाई रोटी भी गैस पर बनाई जाती है।

चूल्हे की रोटी का स्वाद और सुगंध ही वह भूल गई।

उसे अपने विवाह की बातें याद आ गई-तो बूढ़े तन में झुरझुरी छूट गई। मानों किसी मदमस्त सांड़ ने गांव के पोखर में उतर कर सारे पानी को उथल-पुथल कर दिया हो। कल तक तो सत्य था, वह आज झूठ बन गया। कल जो झूठ था-वह आज सच बनकर मुँह चिड़ा रहा है।

उसका जब जन्म हुआ था तब माँ ने दाई माँ को दांव नहीं खेलने दिया। इसलिए वह जीवित बच गई और जीवन के सौ सालों के आसपास भी पहुँच गई। अनचाही संतान थी? इसलिए नाम भी रखा गया-'अणची!' उसके बाद एक बहन और आई अवश्य! सुना तो था किंतु वह उसे देख नहीं सकी। देखने की उमंग लिए दौड़कर माँ के कमरे में जाने लगी मगर दादी माँ की डांट खाकर लौट आई-भाग! करमजली! तू एक ही बहुत है कुल को नीचा दिखाने वाली! यह एक और चुड़ैल कहाँ से आ मरी।

दादी, ने माँ पर भी अपना क्रोध निकाला, मैं कहती थी कि तेरा पाँव लंगड़ा पड़ रहा है पेट में लड़की ही है, गिरवा दे! नहीं मानी न!

हवेली में उदासी छा गई। सभी जाने क्या कानाफूसी करने लगे थे। थोड़ी देर बाद ही माँ का रुदन भी सुनाई देने लगा। फिर दादी सा भी छाती कूट-कूट कर दहाड़े मारने लगी। पास-पड़ौस की औरतें भी एक-एक कर पल्ला लेने आने लगी। ऐसा लग रहा था मानों वे सब दादी और माँ के रुदन का इंतजार ही कर रही थी।

और उसने देखा था-चार-पाँच लोग रावले से बाहर आए। एक के हाथ में लाल कपड़े में कुछ लपेटे हुए था। दूसरे आदमी के हाथ में गेती फावड़ा था। वे लोग पीछे जंगल की ओर गए ओर उसे गाड़ आए। फिर बोतले खुली। जाने पीछा छूटने की खुशी में या कन्या के मरने के गम में।

और आज उसमें 'अणची डोकरी' की पड़पोती का जन्मोत्सव है, नामकरण का समारोह है। ढोल ढमक रहा है। ढोल ही नहीं, अंगरेजी बाजा। क्या कहते हैं उसे, बैण्ड! हाँ बैण्ड भी मंगवाया गया है। वाह, आनन्द आ गया। उसकी बूढ़ी आँखें बंद नहीं है। नहीं तो इस दृश्य को वह स्वप्न ही समझती। किंतु सचमुच देख रही है। हाँ आँखों पर मोटे कांच का चश्मा चढ़ा हुआ अवश्य है।

अब औरतों ने गीत गाने शुरू कर दिए।

एक घटना और उसके सामने आ खड़ी हुई। जब वह आठ बरस की ही थी। तब उसका विवाह हो गया था। नहीं, यूँ तो जब वह पैदा ही नहीं हुई थी, तब ही हो गया क्यों नहीं मान लूं?

एक दिन बापूजी, मां से कह रहे थे कि गोपालसिंह जी से वचन किया हुआ है कि यदि आपके लड़का और मेरे लड़की हुई तो हम आपस में समधी बन जाएँगे या

फिर मेरे लड़का और आपके लड़की हुई तो भी विवाह कर देंगे। राजपूत का वचन एक होता है। सो विवाह तो पेट से बाहर आने से पहले ही तय हो चुका था। भले ही लड़के की उम्र दो साल कम ही क्यों न थी।

इस तरह मात्र आठ बरसों की उम्र में 'अक्षय तृतीया' पर उसका विवाह कर दिया गया। पीहर छूटा, ससुराल आ गई। उसे याद है, दो जापे हुए तब तक तो ठीक से बच्चों के बाप को देख, वह भी नहीं सकी। वह दिन भर बाहर कामकाज में उलझे रहते, मैं घर में ही खटती रहती। ढाडा ढोरों का बांटा, चारा, पानी, गोबर उठाना, कण्डे थापना आदि कामों से फुरसत ही नहीं मिलती। रात को रामू का बापू उसकी माँ के पास बिस्तर बिछाकर सो जाता और वह भीतर ओवरी में चटाई बिछाकर पड़ जाती। यों तो सब की आँख बचाकर रामू का बापू उससे मिलने आ ही जाता और ठीक से बात भी नहीं हो पाती कि वह जा बह जा। हाँ, जलेबी के दो चार आटें अक्सर ले आता-थ्हारे ताई लायों हूँ! खाय ले!

पहला बेटा हुआ-रामू, रामसिंह। दूसरी बार बेटी हुई थी-मरी हुई। बाड़े के पीछे गाड़ दी गई। गाड़े जाने की सूचना भी दाई माँ ने ही उसे दी थी। 'अणची बाई, थ्हारा तो करम फूट गया। बेटी हुई ही। टेंटूओं दबार टोटकों करणों पडियों। पेली छोरी ने मारया पछै टाबर हुया करे ओ सती माता रो आदेश मानीजौ।'

किंतु सती माता का आदेश भी काम नहीं आया। फिर से लड़की हुई-राधा। उसे मैंने बचा लिया। उसके बाद हुआ किसना-किसनसिंह। और जिस लड़की के लिए यह उत्सव है वह किसनसिंह के बेटे हरनारायणसिंह की बेटी है। किसनसिंह की पोती उसकी पड़पोती। सब नौकरियां करते हैं, हरनारायण प्रोफेसर है तो उसकी पत्नी नर्स है। अब ठिकाणै रहे कहाँ?

औरतों के गीत सुनाई देने लगे हैं। पंडित ने जोर से आवाज दी।

जच्चा बच्चा को बुलाओ। मुहुर्त हो गया है।

पोते हरनारायण की डाँट सुनाई पड़ी-सुमन! सुनती है कि नहीं। जल्दी आ। बेशरम! पत्नी का नाम लेकर बुला रहा है। इतने लोगों के सामने। न लाज न शरम।

याद आये वे दिन जब उसके सास सुसरा दोनों देवलोक सिधार गए थे। तब एक-दूसरे को बुलाने बतलाने की जरूरत पड़ने लगी। वे कहतो-रादा.....! सुण तो।

किंतु राधा बिटियां तो अपने सासरे में थी-वहाँ कहाँ? लेकिन उनका मतलब उससे हुआ करता था। उसे तो उनका नाम ठीक से याद भी नहीं है। वह उन्हें पुकारती तो कहती-राम रा बापू सुणों हो क!

लो! अब तो बैण्ड ने धुन छेड़ दी है। उसने चश्में के मोटे कांचों को पाणी लगाकर साफ किया फिर पहनकर ध्यान से देखने लगी।

हाँ, आगे-आगे हरनारायण है, उसके हाथ में कन्या है, उसके पीछे उसकी पत्नी सुमन कंवर पीली ओढ़नी ओढ़ी हुई चल रही है। लेकिन खुले मुँह! इतने आदमियों के सामने सम्बन्धियों के बीच खुले मुँह। हाय राम!

दोनों आकर आसनों पर अपनी-अपनी जगह बैठ गए हैं।

आज वह बहुत खुश है।

खटिया पर बैठी मोटे काँच के चश्में से सब देख रही है। उसके पोते के नौ दिन पहले लड़की हुई है। उसी का नामकरण समारोह हो रहा है।

संपर्क : 2/152, साकेत नगर, ब्यावरा, अजमेर (राजस्थान)

सुशान्त सुप्रिय

स्पर्श

उनका स्नेहिल स्पर्श मुझे आह्लाद से भर देता था। उस स्पर्श में पिता का वात्सल्य था। माँ की ममता थी। बड़े-बुजुर्गों का दुलार था। उस स्पर्श में पुचकार था। वह स्पर्श जैसे अपने में सब कुछ समेटे होता था। वह छुअन ऐसी थी जिसकी मुझे शिद्दत से प्रतीक्षा रहती थी। अपने सिर पर उनके हाथ का स्पर्श पाकर मैं आश्वस्त हो जाता था। वह स्पर्श मेरे अंतस में सुखद अर्थ भर देता था। वह स्पर्श पाकर लगता था जैसे मैं खिड़की के बाहर लॉन के आगे बाड़ के पार पेड़ों के ऊपर आकाश में तैर रहे उन्मुक्त बादलों पर ढलते सूरज की गुलाबी आभा देख रहा हूँ। बचपन में जब मैं बीमार होता था तब अपने माथे पर उनके हाथों का स्पर्श पाते ही मेरी आधी बीमारी गायब हो जाती थी। उनका स्पर्श मेरे मन के अंधेरे कोनों में सैकड़ों बत्तियाँ जला जाता था। ऐसा था मेरे पिता का स्पर्श।

पिता की आत्मा किताबों में बसती थी। साहित्य के समुद्र में गोते लगाकर वे अनमोल हीरे-मोती ले आते थे। जब से मैंने होश सम्भाला, पिता को पढ़ते-लिखते हुए ही पाया। वे पहले कॉलेज में, फिर विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाया करते थे। माँ बताती हैं कि वे एक बेहद लोकप्रिय प्राध्यापक थे। दूसरी कक्षाओं के छात्र अपनी-अपनी कक्षाएँ छोड़कर पिताजी की कक्षा में उन्हें सुनने के लिए आते थे। अपने विषय पर उनकी पकड़ लाजवाब थी। उनकी वाणी में ओज था, मंत्रमुग्ध कर देने की असीम क्षमता थी। मेरे बचपन में निराला,

एक बार किसी जंगल के पेड़ों ने काटे जाने से इंकार कर दिया। उन्होंने पंख उगा लिये और वे सभी पेड़ उड़कर किसी दूसरी जगह किसी और जंगल में चले गए... कैसे जब दुनिया में प्रदूषण बढ़ने से गर्मी बढ़ जाती थी तब पहाड़ रोते थे क्योंकि उन पर जमी बर्फ पिघल जाती थी और इससे नदियों में बाढ़ आ जाती थी... कि एक बार जब किसी दुष्ट ने एक पेड़ काटा तो उसके भीतर से वनदेवी प्रकट हुई और उसने पेड़ काटने वाले को दण्ड देकर उसे पत्थर का बना दिया...

मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा और दुष्यंत कुमार आदि की रचनाओं पर हमारे घर में इस तरह चर्चा होती थी जैसे आजकल के घरों में सलमान, आमिर, शाहरूख, ऋतिक, अक्षय कुमार, बिपाशा और ऐश्वर्या राय आदि का जिक्र होता है। मैं तब आठ-नौ साल का था और मुझे पिता सफेद धोती-कुर्ते और घुंघराले बालों में एटलस साइकिल पर कॉलेज जाते हुए बेहद आकर्षक लगते थे। बचपन से ही मैं अपने पिता जैसा बनना चाहता था। उनके जैसा दिखना चाहता था। वे मेरे आदर्श थे।

मेरे पास अपने बचपन की एक तस्वीर है जिसमें मुझे गोद में लेकर पिताजी घर आए छात्रों को कुछ पढ़ा रहे हैं। उस तस्वीर में भी उनका हाथ मेरे सिर पर है।

पिता की लिखावट बहुत सुंदर थी। उनके अक्षर मोतियों जैसे गोल होते थे। मैं शुरू से ही पिता जैसा सुंदर लिखना चाहता था। जब मै दस साल का था तब एक बार मैंने पिता से पूछा-'पापा, आप इतना सुंदर कैसे लिख लेते हैं?' तब पिता ने जो कहा था वह मुझे आज भी याद है-'बेटा, जब हम कोई भी काम अपने पूरे मन से करते हैं तब वह काम अपने आप सुंदर और अच्छे ढंग से होता है।' बी.ए. की उनकी एक कापी आज भी मेरे पास है। जब मेरे बेटे ने पहली बार अपने दादाजी की सुंदर लिखावट देखी तो वह दंग रह गया। अब तो वह भी अपने दादाजी जैसे सुंदर अक्षर लिखने की कोशिश करता है।

मुझे बचपन में पिता की कलम से लिखने की बहुत इच्छा होती थी। उनके पास तरह-तरह की कलम थी। लेकिन उनकी प्रिय कलम बाँस की एक कलम थी जिसे कोई रंगून से लाया था और उन्हें उपहार में दे गया था। मेरे दसवें जन्म दिन पर जब पिता ने मुझसे पूछा कि मुझे क्या चाहिए तब मैंने उनसे उनकी बाँस की कलम माँग ली। वह कलम आज भी मेरे पास है।

पिताजी अक्सर मुझे कहानियाँ सुनाते थे-सच्ची कहानियाँ। कैसे एक बार किसी जंगल के पेड़ों ने काटे जाने से इंकार कर दिया। उन्होंने पंख उगा लिये और वे सभी पेड़ उड़कर किसी दूसरी जगह किसी और जंगल में चले गए... कैसे जब दुनिया में प्रदूषण बढ़ने से गर्मी बढ़ जाती थी तब पहाड़ रोते थे क्योंकि उन पर जमी बर्फ़ पिघल जाती थी और इससे नदियों में बाढ़ आ जाती थी... कि एक बार जब किसी दुष्ट ने एक पेड़ काटा तो उसके भीतर से वनदेवी प्रकट हुई और उसने पेड़ काटने वाले को दण्ड देकर उसे पत्थर का बना दिया... कि जो लोग नदी-नालों को गंदा करते थे उन्हें जल देवी शाप देती थी और वे उसी गंदे जल में डूब जाते थे... कि जो बच्चे झूठ बोलते थे और बड़ों का कहना नहीं मानते थे उनके सींग निकल आते थे...।

जिस साल मैं दस बरस का हुआ उस साल खूब बारिश हुई थी और पिता अक्सर झूम झूम कर 'अरे वर्ष के हर्ष, बरस तू बरस-बरस रसधार, पार ले चल तू मुझको' गीत गाते थे। बाद में मैंने जाना कि वह निराला का गीत था।

कभी-कभी जब पिता कॉलेज गए होते, मैं उनकी 'स्टडी' में चला जाता और उनकी लाइब्रेरी की किताबें उलटने-पलटने लगता। उन दिनों मैं न जाने क्या-क्या पढ़ जाता था। कई बार मेरे सपनों में भी पिताजी के पुस्तकालय में रखी किताबों के पात्र आ जाते क्योंकि एक बार माँ ने मुझे बताया था कि कभी-कभी मैं नींद में साहित्यिक-सा कुछ-कुछ बड़बड़ाने लगता था। माँ यह सब सुनकर डर जाती पर बगल में सो रहे पिताजी जागकर मेरे सिर पर प्यार से हाथ फेरते थे और सभी पात्र वापस अपनी किताबों में भाग जाते। मैं उनका आश्वस्त कर देने वाला स्पर्श पाकर शांत होकर सो जाता था।

शाम का समय खेलकूद का होता था। पिता जितना अच्छा गाते थे उतना ही बढ़िया बैडमिंटन खेलते थे। पिता को बैडमिंटन में हरा पाना बेहद कठिन था। उनके 'स्मैश' और 'ड्राप' लाजवाब होते। वे जहाँ चाहते, शटल-कॉक विपक्षी खेमें में ठीक वहीं गिरती। गर्मी की छुट्टियों में पिता हम सब भाई-बहनों के साथ शतरंज

भी खेलते। उन्होंने ही हम सब को शतरंज खेलना सिखाया था। उन्हें शतरंज में हरा पाना भी लगभग असम्भव था। बरसों बाद सैकड़ों 'गेम' हारने के बाद जब एक बार मैंने उन्हें शतरंज में हरा दिया तब खुद मुझे इस बात पर यकीन नहीं हुआ। मेरा तेरहवां जन्म दिन आने वाला था। जन्म-दिन के मौके पर उस साल पिता ने मुझे संगमरमर का शतरंज खरीद कर दिया था। उन दिनों रोज़ रात को सोने से पहले पिता मुझसे 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भव भय दारुणं' वाली श्रीराम-स्तुति सुनते थे।

पिता हम भाई-बहनों को बड़े चाव से पढ़ाते थे। उनसे पढ़ने में हम सब को बहुत मज़ा आता था। पहले हिन्दी में 'डिक्टेशन' दी जाती। फिर पिता कापी जाँचते और गलतियों को दस बार लिखकर दिखाना होता। फिर अंग्रेजी में 'डिक्टेशन' दी जाती। और गलतियाँ सुधारने का वही क्रम दोहराया जाता। फिर एक से बीस तक के पहाड़े याद करके सुनाना होता। गलती होने पर उसे फिर से रटना होता। बीच-बीच में पिताजी अकबर-बीरबल और तेनाली राम के रोचक किस्से भी हमें सुनाते ताकि हम भाई-बहनों का मन लगा रहे। फिर पिताजी याद करने के लिए हमें कोई पाठ दे देते। सुभद्रा कुमारी चौहान की लम्बी कविता 'सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी... खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' कंठस्थ कर लेने पर पिताजी ने मुझे अपनी लाइब्रेरी से स्वामी विवेकानंद की एक पुस्तक इनाम में दी थी जिसके पहले पृष्ठ पर अंग्रेज़ी में लिखा था-'अराइज़, अवेक एण्ड स्टॉप नॉट टिल द गोल इज़ रीच्ड।' इस पंक्ति को हमेशा याद रखना। किताब देते हुए पिता ने कहा था।

कई बार जब रात का खाना बनने में देर हो जाती और हम भाई-बहन बिना खाना खाए सोने लगते तब पिता हमें बारी-बारी से गोद में उठाकर दीवार पर उंगलियों की परछाइयों से कुत्ते-बिल्लियों के आकार बनाकर हमारा मन लगाए रखते। थोड़ी देर बाद खाना आ जाता और हम पिता की गोद में बैठकर उनसे कहानियाँ सुनते हुए उनके हाथ से खाना खाते और उनका स्नेहिल स्पर्श महसूस करते हुए उनकी गोद में सो जाते। उनका आत्मीय स्पर्श शुरू से ही मेरा संबल था, मेरी सबसे बड़ी पूँजी थी।

जिस वर्ष मैं तेरह का हो गया था उसी साल गर्मी की छुट्टियों में हम दादा-दादी के पास गाँव गए थे। वहाँ हम सभी भाई-बहनों के मज़े लग गए। हम रोज़ पिता के साथ खेत-खलिहानों में घूमने निकल जाते। पुआल के बड़े-बड़े ढेरों पर चढ़कर कूदते फिरते या उसमें छिप जाते। गाँव के तालाब में चपटे पत्थर से 'छिछली' खेलते। गाँव के कुएँ पर नहाते। एड़ियाँ उठाकर गाँव के मंदिर की घंटियाँ बजाते। दादाजी के कुत्ते टौमी की पूँछ खींचते या 'हुश्' कहकर गाँव के दूसरे आवारा कुत्तों से उसे लड़ाते। गाँव के पास बहती नदी में पिता के साथ मछलियाँ पकड़ने जाते। बाकी बचे समय में हम बच्चे दादाजी से परदादाजी की वीरता की कहानियाँ सुनते कि कैसे एक बार परदादाजी ने केवल अपने हाथों से एक खूँखार बाघ का जबड़ा फाड़कर उसे मार डाला था।

एक दिन गाँव के कुएँ में एक बछड़ा गिर गया। तब पिता अकेले ही रस्सी के सहारे नीचे उतरे और दूसरे लोगों की मदद से बछड़े को सही-सलामत ऊपर ले आए। जब लोग पिताजी के गुण गा रहे थे, मेरी छाती गर्व से चौड़ी होती जा रही थी। मेरे मन में पिता जैसा बनने की इच्छा और बलवती हो गई।

एक सुबह नाश्ता करने के बाद मैं और पिता गाँव के पास बहती नदी में मछलियाँ पकड़ने गए। पिता अच्छे तैराक थे। वे एक ही बार में पूरी नदी पार करके उस किनारे पर जाने के बाद बिना रूके वापस लौटकर इस किनारे पर आ जाते थे। मैं भी थोड़ा-बहुत तैर लेता था। बहुत सारी मछलियाँ पकड़ने के बाद हम दोनों नदी में तैरने लगे। पिता तैरते हुए नदी के बीच में चले जाते थे जबकि मैं नदी के किनारे-किनारे ही तैर रहा था।

तैरते-तैरते मैंने डुबकी लगाई तो अचानक मेरे पैर नदी के तल में उगी झाड़ियों में फँस गए। मैंने छूटने के लिए जोर लगाया पर मेरे पैर झाड़ियों के जाल में और

उलझते चले गए। मेरे लिए पानी के भीतर ज्यादा देर तक साँस रोकना मुश्किल हो रहा था। मैं छटपटा कर मुँह और नाक से पानी निगलने लगा। मुझे लगा जैसे मैं डूब जाऊँगा।

अचानक मुझे अपने सिर पर एक स्पर्श महसूस हुआ। फिर किसी ने नीचे जाकर मेरी दोनों टाँगें झाड़ियों में से छुड़ाई और मुझे खींचकर ऊपर ले आया....

मैं नदी के किनारे पेट के बल लेटा हुआ था और पिता मेरी पीठ दबाकर मेरे भीतर चला गया पानी निकाल रहे थे। वह पिता ही थे जो मुझे मौत के मुँह से वापस खींच लाए थे। बचपन में एक बार मैंने सिलाई-मशीन का तेल पी लिया था। तब भी पिता मुझे समय रहते डॉक्टर के पास ले गए थे। बचपन में ही एक बार छोटा भाई पलाश घर के पास वाले नाले में गिरकर लगभग पूरा डूब ही गया था। तब भी पिता ने ही समय रहते उसे नाले से बाहर निकाल दिया था और उसकी जान बच गई थी। कुछ बरस बाद पतंग लूटते हुए मैंने घर के गेट के बगल की चारदीवारी से छलांग लगाई थी और मेरा गला गेट के ऊपर लगे भाले की नोक में खच्च से फँस गया था। तब भी पिता ही समय रहते मुझे अस्पताल ले गए थे और मेरी जान बच गई थी...

हमारी छुट्टियाँ खत्म होने वाली थी। माँ-पिताजी गाँव से वापस शहर लौटने की तैयारी करने लगे थे। हम बच्चे भी अपना ज्यादा से ज्यादा समय गाँव की बोली बोलते हुए दादा-दादी के साथ बिताने लगे थे।

एक शाम अचानक पिताजी ने सीने में दर्द की शिकायत की। थोड़ी आराम करने पर उनका दर्द ठीक हो गया। पर बीच रात में गाँव के चौकीदार ने घर के कुत्ते टॉमी को पूर्णिमा के गोल चाँद की ओर मुँह करके रोते हुए देखा।

सुबह तड़के घर की महिलाएँ विलाप करने लगीं। मैं हड़बड़ा कर उठा। पिताजी नींद में ही चल बसे थे। बाद में डॉक्टर ने बताया कि उन्हें दिल का दौरा पड़ गया था।

मेरी दुनिया अचानक वीरान हो गई। सुबह का समय था लेकिन मेरे सूर्य का अस्त हो चुका था। लगा जैसे अँधेरा रोशनी को साबुत निगल गया था। पिता चले गए थे। मैं उन्हें बचाने के लिए कुछ नहीं कर सका था।

सब रो रहे थे। हालाँकि बिस्तर पर पड़े पिता को देखकर लग रहा था जैसे वे मरे नहीं थे, जीवित थे। जैसे उनका दिल अभी भी हम लोगों के लिए धड़क रहा था। जैसे वे अभी उठ खड़े होंगे और दोबारा हमें सच्ची कहानियाँ सुनाने लगेंगे। जैसे वे अभी अपना हाथ उठाकर मेरे सिर पर रखेंगे और उनका स्पर्श मुझे फिर से आश्वस्त कर देगा...

जीवन की आपा-धापी में कभी-कभी मुझे पिताजी द्वारा पढ़ाए गए उनके छात्र मिल जाते हैं। वे आज भी पिताजी के गुण गाते हैं।

पिताजी को गए हुए बरसों बीत गए हैं। पर अब भी जब कभी मैं अपरिचित लोगों से भरे अजनबी शहरों में दुखी और उदास होता हूँ, जब कभी मैं भीतर-बाहर से अँधेरों में घिरने लगता हूँ, मुझे लगता है जैसे उन्होंने मेरे सिर पर अपना आत्मीय हाथ रख दिया हो। लगता है, जैसे वे कभी कहीं नहीं गए, जैसे वे अब भी यहीं हैं-हमारे बीच। लगता है जैसे वे मेरे माथे को धीरे-धीरे सहला रहे हों। मेरे गाल थपथपा रहे हों और उनका स्नेहिल स्पर्श पाकर मैं फिर से तनाव रहित और आश्वस्त हो जाता हूँ। जीवन के तूफानी समुद्र में उनके आत्मीय स्पर्श का अहसास मेरे लिए हर बार आश्रय देने वाला एक हरा टापू बन जाता है।

संपर्क : केयर ऑफ- श्री एच.बी. सिन्हा
5174, श्यामलाल बिल्डिंग, बसंत रोड,
नई दिल्ली- 110055

उषा जायसवाल

भूल जाओ

आज मैं बहुत खुश हूँ जिसे बता नहीं सकती। इतना तो जिंदगी में मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि मैं क्या से क्या हो जाऊँगी...।

तुमने सोचा क्यों नहीं था कि दिन बदलते देर नहीं लगती कहावत है कि 'घूरे के दिन भी बदलते हैं।' यही तो प्रकृति का नियम है।... बड़े शांत चित्त से सुधांशु ने कहा।

मुस्कान चिंतन चक्र के अतीत में घूमने लगी। जैसे उसे किसी ने कुम्हार के चाक पर चढ़ाकर तेजी से घुमा दिया हो। और वह अतीत के अतल में जा पहुँची। उसने अनुभव किया कि जिंदगी कभी भी एक जगह ठहरती ही कहाँ हैं। वह तो निरंतर अग्रसर ही होती रहती है। बारम्बार मिट्टी के पात्र की तरह नवल रूप ग्रहण करती रहती है। कुम्हार की तरह अदृश्य घुमाने वाला स्वेच्छा से ऐसा घुमाता रहता है कि न तो पात्र का उस पर कोई वश होता और ना मनुष्य के हाथ कुछ कहने में समर्थ होते हैं। जैसे कोई अदृश्य शक्ति ही संचालन सूत्र अपने हाथों में रखती है। जिस पर किसी का कोई वश नहीं। यही तो नियति है जो एक नियम के अंतर्गत होता रहता है। संसार भी तो एक चाक ही है जिस पर समस्त प्राणी दिन-रात घूम रहे हैं। जगत के इस परिभ्रमण का कोई अंत नहीं....। कोई अंत नहीं...। जीव कितने भ्रमण के बीच भ्रमित होता रहता है कोई नहीं जानता और कितने संबंध स्थापित होते हैं और छूटते-टूटते जाते हैं, कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जिंदगी कभी भी एक जगह ठहरती ही कहाँ हैं। वह तो निरंतर अग्रसर ही होती रहती है। बारम्बार मिट्टी के पात्र की तरह नवल रूप ग्रहण करती रहती है। कुम्हार की तरह अदृश्य घुमाने वाला स्वेच्छा से ऐसा घुमाता रहता है कि न तो पात्र का उस पर कोई वश होता और ना मनुष्य के हाथ कुछ कहने में समर्थ होते हैं। जैसे कोई अदृश्य शक्ति ही संचालन सूत्र अपने हाथों में रखती है। जिस पर किसी का कोई वश नहीं। यही तो नियति है जो एक नियम के अंतर्गत होता रहता है। संसार भी तो एक चाक ही है जिस पर समस्त प्राणी दिन-रात घूम रहे हैं। जगत के इस परिभ्रमण का कोई अंत नहीं....। कोई अंत नहीं...।

सोचते-सोचते मुस्कान अतीत के गर्भ में चली गई। विपुल उसकी नजरों में समा गया था जिसे उसने सम्पर्क के दौरान हृदय में बसा लिया था। घटनाएँ कैसे-कैसे और क्या-क्या रूप ग्रहण करती है कोई नहीं जानता। यह भी तो एक घटना ही घटी थी कि विपुल बड़े भइया के कम्प्यूटर इंस्टीट्यूट में ट्रेनिंग देने के लिए जॉब कर रहा था और मुझे भी एम.बी.ए. की पढ़ाई समाप्त करने के बाद अपना कैरियर संवारने के लिये कोई न कोई प्रोफेशनल ट्रेनिंग लेना जरूरी था। बड़े भइया ने एक दिन विपुल को मुझे सौंपते हुए कहा था-'विपुल यह मेरी छोटी बहन मुस्कान है। मैं तुम्हें इसे सौंपता हूँ। तुम इसे कम्प्यूटर लाइन में परफेक्ट कर दो जिससे यह अपने पैरों पर खड़ी हो सके।' विपुल भी ज्यादा सोचे-विचारे बिना मुस्कान को मुस्कुराते-मुस्कुराते ट्रेनिंग देने लगा। दोनों के बीच कम्प्यूटर ट्रेनिंग थी, किंतु कुछ दिनों बाद वह भी समाप्त हो गई। फिर प्रारंभ हो गया नये संबंधों का सामंजस्य जिसमें दोनों संतुलन स्थापित करने में संलग्न हो गए। यह संतुलन ऐसे डगर पर चलने की क्रिया है जिसकी केवल अभिव्यक्ति तो है किंतु उसके लिए शब्द कोई नहीं।

वस्तुत: अभिव्यक्ति तो अन्तर्भावों का प्रकाशन है जो संकेतों में सब कुछ व्यक्त कर देता है। इसके लिए शब्दावलियों की भाषा और उसके गूढ़ार्थों को खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भले ही विद्वानों ने भावों को चित्त में उत्पन्न होने वाले विकारों की संज्ञा दी हो। इसे यह मान्यता प्रदान की हो कि यह अंत:करण का मंथन कर उसे वांछित दिशा की ओर प्रेरित ही नहीं प्रयाण भी करता है। भावनाएँ भले ही मन में सहस्त्रों उम्रियाँ उत्पन्न कर उसे तरंगित ही नहीं उद्वेलित करने में सक्षम होती हैं। अब यही स्थिति विपुल और मुस्कान के मन की भी थी। दोनों के मन उत्ताल उमंग में लहरा रहे थे जिससे तन-पोत पेंच खा रहा था। यथार्थ से परे कल्पना लोक में दोनों विहार कर रहे थे। निर्जीव कम्प्यूटर दोनों के मनोभावों की फ्लॉपी बनाने में सर्वथा असमर्थ था। यह स्थिति दो के एक होने के दृश्य जगत से परे एक नवजगत की रचना की होती है। इसी नव जगत के निर्माण में दोनों अभिमुख हो गये।

उधर बड़े भइया काम के बोझ तले मरने तक का अवकाश नहीं पा रहे थे। उन्हें अपने इंस्टीट्यूट को कम्प्यूटर की तमाम नवीनतम तकनीक से लैस करना अनिवार्य था। वे मार्केट में बैठे थे जहाँ जबरदस्त काम्पीटीशन से जूझ रहे थे। उनके लिये अपनी शक्ति से कहीं अधिक परिश्रम की जरूरत थी जिससे वे बाजार में टिके रह सकें। ऐसी स्थिति में वे अपने लक्ष्य के प्रति अर्जुन बने थे। अर्जुन बनने की तुलना में अर्जुन होना दुष्कर था क्योंकि इसमें सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियों को वांछित उपलब्धि हस्तगत होती है। बड़े भइया कठिनतम परिश्रम करके अपना पथ भी बना रहे थे और उसके पथिक भी थे। वे बाजारवाद की जकड़ से पूरी तरह आबद्ध थे जहाँ ग्राहकों को चारों दिशाओं से पकड़ना अनिवार्य होता है। अन्यथा कोई दूसरा उन्हें नि:संदेह पकड़ ही लेगा। बाजार का कोई भी दुकानदार इसी ताक में बैठा रहता है कि कैसे ग्राहक को आकर्षित कर उसे अपने शिकंजे में ले। इसके लिये वह तरह-तरह के उपाय खोजता रहता है। बड़े भइया तरह-तरह के उपाय अन्वेषित कर रहे थे जिसमें विभिन्न नगरों में ब्रांच खोलने से लेकर ग्राहकों को भारी छूट तक की योजनाओं में लीन थे। वे बाजारवाद के दौर में अपने आर्थिक साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे।

इस दौरान बड़े भइया ने अपने एक प्रोजेक्ट के विस्तारीकरण हेतु मुस्कान और विपुल को मुंबई इस उद्देश्य से भेजा कि दोनों विदेशी कम्पनी 'ब्लू डार्ट' के जनरल मैनेजर मि. लॉंगलिव से बिज़नेस तथा कमीशन संबंधी बिन्दुओं पर अपने पक्ष रखकर उन्हें कनविंस कर सकें। कम्पनी ने दोनों की सुख-सुविधाओं के लिये अपने रेस्ट हाउस में भरपूर साधन उपलब्ध कराया। अत्यंत आवश्यक कार्यवश मिस्टर लॉगलिव को अमेरिका

में ही चार दिनों के लिये रुकना अपरिहार्य हो गया था जिसकी सूचना उन्होंने अपने मुंबई ब्रांच को फैक्स-फोन द्वारा कर दी थी और निर्देश दे दिया था कि भारतीय 'कम्प्यूटर एण्ड कम्प्यूटर' कम्पनी के प्रतिनिधियों को आग्रहपूर्वक उनके आने तक रोका जाए और उनकी सुख-सुविधा में कोई कसर न की जाए। बड़े भइया को मोबाइल पर अपनी विवशता बताते हुए मुस्कान ने वस्तुस्थिति से उन्हें अवगत कराते हुए मुंबई रुकने का अपना फैसला बता दिया था। बड़े भइया अपरिहार्य स्थिति जानते हुए अपने आर्थिक साम्राज्य के द्वीप में डूब गए। यद्यपि माँ तथा उनकी पत्नी श्यामा ने इस स्थिति पर असहमति-असहयोग भी प्रदर्शित किया था। किंतु बड़े भइया ने उनके विचारों को सिरे से खारिज करते हुए कहा था कि हमें विकसित दुनिया में जीना है जहाँ पुराने परम्परागत विचारों की कोई जगह नहीं है। सचमुच पुरानापन आज पौरांणिक युग की बात हो गयी है।

इधर विपुल को मुस्कान के निकट आने का स्वर्ण अवसर मिल गया। वे परस्पर कुछ कम्प्यूटर की भावी योजनाओं के संबंध में बातें करते तो उनकी बॉडी लैंग्वेज भावी जीवन की सांकेतिक शैली में बहुत कुछ कह देती थी। मुस्कान के अन्तर्बाह्य की सौन्दर्य सरिता कल-कल, छल-छल प्रवाहित होते देख विपुल उस प्रवाह में तैरने से अपने को रोक न सका। यद्यपि नदी में तैरना उसे तनिक भी नहीं आता था और डूबने के भय से उसके निकट भी नहीं जाता था। किंतु वह प्राणलेवा मुस्कान की मदिर मदिराक्षी के सौन्दर्य सिंधु में डूबने को तत्पर था। रेस्ट हाउस की मादक साज-सज्जा ने उनमें संचारी भाव की उत्ताल-तरंगे उत्पन्न की जिसमें वे दोनों मानसिक रूप से कल्लोल करते रहे। मुस्कान को भी आन्तरिक अनुभूति होती जैसे विपुल मात्र उसके लिए ही निर्मित किया गया है और उस पर एकाधिकार केवल उसका है।

समुद्र तट पर बने रेस्ट हाउस के कमरे में दोनों आमने-सामने बैठे कम्प्यूटर के हिन्दीकरण की समस्याओं पर विचार विनिमय में लीन थे। विपुल ने कनखियों से देखा समुद्र में विलीन होती रवि रश्मियाँ मुस्कान के मुख मण्डल को ज्योतित कर रही थी, जिससे वह ज्योतिष्मान हो रही थी। उसके भावुक मन ने यह भी अनुभव किया कि कम्पित रश्मियाँ मुस्कान के कपोलों के नैसर्गिक भंवर का सौम्य स्पर्श कितनी मंथर गति से कर रही है, जिसका आभास मुस्कान को भी नहीं हो रहा है। विपुल का भी मन ऐसे स्पर्श के लिये ललक उठा। उसने तमाम चर्चा को विराम देते हुए कहा-'मुस्कान मैं अपने मन की बात कहना चाहता हूँ। मैं तुम्हें बड़े भइया से सदा के लिये माँग लेना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं।' मुस्कान कुछ भी न बोल पायी थी। विपुल के प्रस्ताव तले दब गयी थी।

मि. लॉगलिव विपुल के बौद्धिक वैभव से अत्यंत प्रभावित हुए। उनके प्रोजेक्ट पर तो वे मुग्ध हो गए। साफ्टवेयर के क्षेत्र में हिंदी में किये जाने वाले उनके अनुसंधानों पर तो भाव विभोर हो गये थे। और उन्हें लाभ ही लाभ दिखाई दे रहा था। तत्काल अपनी मल्टी नेशनल कंपनी में उसे मुंबई स्थित हेड ऑफिस में जनरल मैनेजर का ही ऑफर दे डाला था। जिस प्रकार विपुल के व्यक्तित्व पर मुस्कान मुग्ध थी उसी प्रकार मि. लॉगलिव उसके कृतित्व पर कृतार्थ थे। भारी भरकम मेंट कार, बंगला अन्य सुविधाओं से उसे प्रभावित कर लिया। विपुल ने बड़े भइया को छोड़ते हुए लगे हाथ मेरी माँग करते हुए उन्हें पुनः पकड़ते हुए कहा था-'बड़े भइया मुस्कान मेरे साथ सर्वाधिक प्रसन्न रहेगी ऐसी ही उनकी भी मानसिकता है। बस आपकी सहमति ही हमारे सफल जीवन का द्वार खोलेगी जहाँ आपके आशीर्वाद से निरंतर सुख की वर्षा होती रहेगी। आप तो उच्च विचार मनः हैं।' सचमुच उन्होंने अपनी उच्चता का परिचय देते हुए पत्नी तथा माँ की वर्जनाओं को सिरे से नकारते हुए अपने फैसले पर अटल रहे। अन्ततः उनका अटल स्वरूप विपुल की दृष्टि में उन्नत हिमालय

का ही प्रतिरूप रहा जिससे तमाम कृत्रिम अवरोधों के बाद भी विपुल और मुस्कान बड़े भइया के दबाव में सात फेरों में आबद्ध हो गई।

जीवन का सारांश कदाचित सुख-दु:ख के तटबंधों के मध्य प्रवाहित होने वाली नदी के समान है जो दोनों कूलों का स्पर्श करते हुए अविराम अग्रसर होता है। विपुल और मुस्कान की शादी ने उन्हें पूर्णता प्रदान की। अब मुस्कान हास्य में परिवर्तित हो गई। उसके जीवन का कोना-कोना दमकने लगा था। विपुल कंपनी का सर्वोच्च अधिकारी था जिससे उसे सर्वसुविधा संपन्न विशाल बंगला, कार, नौकर-चाकर, ढेर सारे सहायकों भरा दफ्तर मिला था। देश-विदेश यात्रा के लिये विमान-रेल सुविधाओं का जाल था। यात्रा के दौरान वह नाश्ता मुंबई में करता तो लंच कोलकाता में और डिनर दिल्ली में ब्यूरोक्रेट्स के साथ करता। जीवन का पड़ाव निरंतर ऊँचाईयों की ओर अग्रसर था। जिससे विपुल और मुस्कान का पूर्व जीवन पहचाना ही नहीं जा सकता था। अब विपुल के हाथों एक बहुराष्ट्रीय कंपनी की बागडोर थी जिसे वह स्वेच्छा से जिस दिशा में चाहे ले जा सकता था।

किंतु जब जीवन नदी है तब उसकी दिशा और दशा निरंतर परिवर्तनशील है। कब क्या परिवर्तन-विवर्तन आ जाए कोई नहीं जानता। मुस्कान के जीवन में मात्र चार माह के लिए विपुल का संयोग था फिर तो घोर अंधकार भरा वियोग आ गया। दोनों वसंत के आस्वादन के पहले बवण्डर में घिर गए। विपुल के जीवन में चुपके से कैंसर रोग का प्रकोप कैसे हुआ कोई नहीं जान पाया। यहाँ तक की इसके विशेषज्ञ भी बहुत दिनों तक भ्रम की स्थिति में थे। निरीक्षण-परीक्षण के परिणामों से डॉक्टर हैरान थे कि चोरी-चुपके से आया कैंसर रोग उसे तीव्र गति से कैसे अपने नियंत्रण में ले चुका है और उसे लाइलाज की स्थिति में पहुँचा चुका। विपुल अस्पताल के बिस्तर पर पड़ गया जहाँ उसकी स्थिति विषम से विषमतर होती गयी। उपचार के लिए डॉक्टरों के हथियार डालने की स्थिति बनती गई अंततः डॉक्टरों का मेडिकल बोर्ड इस नतीजे पर पहुँचा कि इनका इलाज अमेरिका में ही संभव है वह भी मात्र ले जाने की शत प्रतिशत रिस्क सहित। विपुल के इलाज में कंपनी पानी जैसा पैसा बहाये जा रही थी और अमेरिका में भी ट्रीटमेंट के लिये ले जाने को तैयार थी किंतु डॉक्टरों की स्पष्ट चेतावनी थी कि पेशेंट की स्थिति इतनी क्रिटीकल है कि मार्ग में कुछ भी हो सकता है। ठीक ऐसा ही हुआ कि डॉक्टरों द्वारा घोषित 'डेंजर प्वाइंट' दूसरे ही दिन आ गया। सबके सम्मुख देखते-देखते विपुल का प्राणपंछी पंख फड़फड़ाकर पिंजरे का मोह त्याग कर अनंत में उड़ गया।

मुस्कान करुण क्रन्दन में बदल गयी। उसके संसार में सबके देखते-देखते ऐसी चहुँ तरफा आग लगी कि कोई कुछ नहीं कर सका। पूस की आग की तरह उसका संसार भस्मसात हो गया और वह जड़वत हो गयी। मृत्यु चील पक्षी की भांति उसके हाथ का मिष्ठान झपट्टा मारकर जाने कहाँ उड़ चली, किंतु इतना होने पर भी जीवन रथ अग्रसर होने से रुकता कहाँ है वह तो अंतिम यात्रा तक निरंतर चलता ही रहता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार मुस्कान के जीवन में घोर अंधकार के बाद सूर्य की किरणें दिखाई दी। उसके रिसते घावों पर काल के ऐसे प्रलेप लगे कि शीतलता की अनुभूति के साथ-साथ पुरानी घटनायें विस्मृति के विवर में विलीन हो गयीं।

एक अंतराल के बाद विपुल का निकटस्थ एक सहयोगी सुधांशु ने मुस्कान के सम्मुख जीवन की डगर में साथ-साथ चलने का प्रस्ताव बड़े नाटकीय ढंग से एक दिन उसके सम्मुख रखा जिसे मुस्कान द्वारा अस्वीकृत करने का प्रसंग ही नहीं आया। ऑफिस के कुछ समाज सेवियों, शुभचिंतकों के सद्‌प्रयास, बड़े भइया की सद्‌भावना, मम्मी-भाभी की की सद्‌कामनाएँ मुस्कान को पुनः आशावादी बनाकर जीवन को नये

सिरे से संवारने के लिये प्रेरित करने लगी। मुस्कान का चिंतन चक्र आज गतिमान हो गया। जीवन को अव्यवस्थित बनाने वाला लथपथ करने वाला, लताड़ने वाला क्षण उसके जीवन में आया ही क्यों? उसके जीवन में विपुल के आने की सार्थकता क्या थी। मात्र चार माह के लिये आना कोई आना थोड़े ही है। इसी बहाने नियति उसकी अग्नि परीक्षा ले रही थी? इस बीच सुधांशु के ड्राइंग रूम में आगमन पर मुस्कान का चिंतन-चक्र रुक गया। सहज ढंग से उसने पूछ लिया- 'क्या सोच रही हो'-'यही कि नियंता नियति के बहाने कैसे-कैसे खेल खेलता है जिसे कहाँ कोई जानता है। आपको तो पता ही है कि विपुल मुझसे कोई दस वर्ष बड़े थे। न जाने मैं कैसे कोई विरोध नहीं कर सकी थी? बड़े भइया के दबाव से चुपचाप सब स्वीकार कर लिया था। किंतु चार माह का बंधन आज भी मेरी समझ से परे है।' बीच में सुधांशु ने संयत भाव से कहा-'मुस्कान नियति के विगत खेल को भूल जाओ... भूल जाओ...।' मुस्कान के हृदय में देर तक यही शब्द 'भूल जाओ... भूल जाओ....' गूँजते रहे।

संपर्क : 84, प्रिंस कालोनी, लोअर ईदगाह हिल्स,
भोपाल-462001 (म.प्र.)

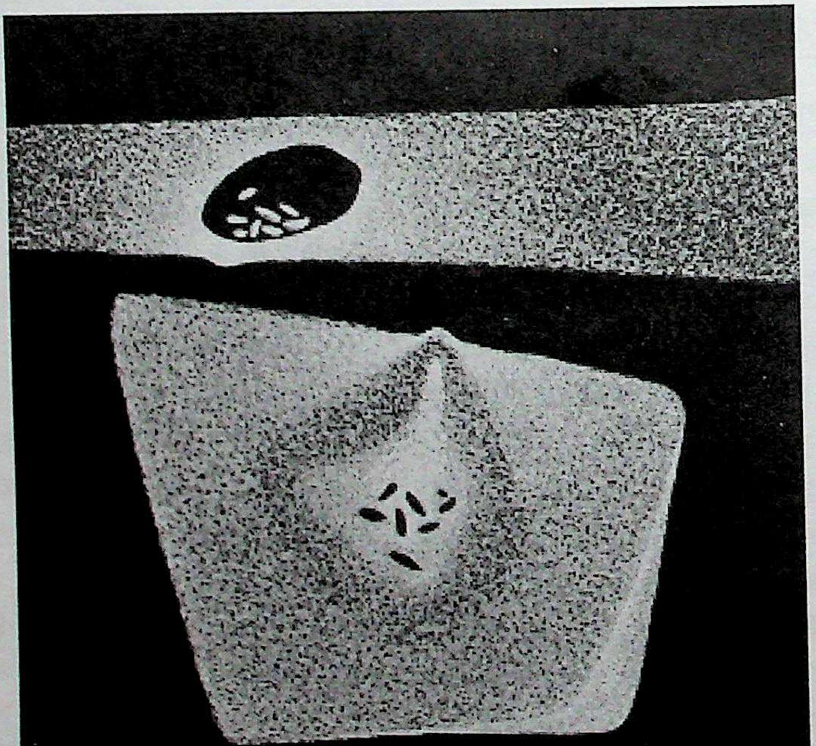

निशान्त

उसका सपना

व्यापार में फेल होने के कई साल बाद, अब उसे लगने लगा था कि उसका पुन: गद्दी पर बैठने और तिजोरी में रुपए रखने-निकालने का सपना सच हो सकता है। उसके आढ़ंती रहे एक किसान को नई मण्डी यार्ड में एक दुकान अलाट हुई थी। वह उस किसान के पास गया। जानता था कि किसान दुकान चलानी क्या जाने? उनके नाम से दुकान तो वह चलाएगा। सो उसने किसान को सपना दिखाया। सेठ बनकर रुतबा बढ़ाने का सपना। उसने किसान से कहा-तुम दुकान बना दो। दुकान चलाना मेरा काम। सारी उम्र दुकान ही चलाई है। वह तो दिनमान का चक्कर था कि फिसल गया। परंतु आदमी गिर-पड़कर ही सवार होता है।

किसान ने चिंता प्रकट की-सेठ जी, हमारे पास इतने पैसे कहाँ?-

'दुकान बनाने के लिए बैंक से ऋण मिल जाएगा। कुछ पैसा तुम अपने आढतिए से उधार ले लो। कुछ फसल का हो जाएगा। तुम एक बार दुकान बना लो। आगे की फिकर मत करो। अभी मेरा मकान बचा हुआ है। उस पर बैंक से उधार ले लूंगा और नाममात्र के पैसों से आढ़त की दुकान चला कर दिखा दूंगा।'

किसान को भी सपना जच गया। सेठ बनकर गद्दी पर बैठने का। इतने दिन गाँव में खेतों में फिरे। अब आढ़त की दुकान पर गद्दी पर बैठेंगे। किसको कितने रुपए देने हैं, कितने नहीं?मुनीम (पुराने सेठ) को हुकुम देंगे। विधि का भी कैसा विधान है जो

जब से उस किसान को दुकान अलाट हुई, तब से लेकर बनने, लिपाई होने और कुछ दिन बाद तक भी वह नए मण्डी यार्ड में हजार बार गया होगा। लेकिन दुकान बिकने के बाद उसने उधर मुँह भी नहीं किया। दुकान के आगे जो पेड़ कभी उसने छाया के लिए लगाया था, वह भी उसके सपने की तरह मुर्झा गया।

कभी सेठ हुआ करता था और जिसके आगे यह किसान पैसे मांगते हुए गिड़गिड़ाया करता था, उसे ही यह हुकम देगा। सरकार के भी कैसे कायदे कानून हैं? जो दुकान करना नहीं जानता उसे दुकान अलाट और जो दुकान करना जानता है, उसे दुकान अलाट नहीं। वैसे यह बात भी नहीं थी कि सारी दुकानें किसानों को ही अलाट हुई हों। वह तो उनका कुछ प्रतिशत हिस्सा था। शेष दुकाने बनियों को ही अलाट हुई थी। हमारी कहानी के नायक को दुकान इसलिए अलाट नहीं हुई क्योंकि वह कई सालों से व्यापारी नहीं रहा था। फेल होने के बाद उसकी फर्म टूट गई थी।

किसान गांव में रहता था और हमारा कहानी का नायक बनिया, कस्बे में। किसान को समझाने और सपने दिखाने, वह कभी-कभी गांव में जाता। किसान भी जब कभी कस्बे में आता, उससे मिलता। व्यापारी ने किसान के बिना कहे ही दुकान बनाने की देख-रेख का जिम्मा खुद ले लिया।

नींव रखने खुद गया। सारा दिन मजदूरों-मिस्त्रियों के पास खड़ा रहा। उसे लग रहा था कि जैसे दुकान किसान की न बनकर उसी की बन रही है। जब से वह फेल हुआ था, बाजार में किसी दुकान पर बैठना नहीं बन पड़ा था। बैठने का कोई बहाना भी नहीं था। सेठ रहे आदमी को किसी ने मुनीम भी नहीं रखा। अब सेठ नहीं रहा था तो क्या? कभी तो सेठ था। और सेठ को मुनीम रखने और हुकम देने में शंका तो होती है। इसलिए अव वह सोच रहा था कि भरे पूरे बाजार की एक दुकान में बैठने की उसकी हौंस अब पूरी होगी। वह 'पिड' पर खड़े होकर फसल की ढेरियों की बोली लगाया करेगा। बड़े-बड़े सेठ मुँह-मत्थे लगा करेंगे। कहाँ तो सारे दिन घर में पड़े, घर की औरतों के ताने सुनना और कहाँ इतना क्रियाशील होकर रहना। वाह! वाह/रंग लग जाएँगे। किसी ने उसे बताया कि फलां कबाड़िये के पास अच्छी हालत में एक तिजोरी पड़ी है। कबाड़ के भाव दे देगा। वह गया और उठा लाया। नई पाँच-छः हजार में आती, वह तीन में ले आया।

नींव उठाकर, मिट्टी भराई गई। वह रोज वहाँ जाता। गर्मी के दिन थे। घुटने में दर्द था। फिर भी आता। मिट्टी कितनी भर गई कितनी रह गई? सब देखता। इस व्यस्तता में घुटने के दर्द को तो जैसे वह भूल ही गया। या पता नहीं, गर्मी से दर्द पिघल गया। जिस दिन मिस्त्रियों को दुकान बनाने का ठेका दिया गया उस दिन तो उसके पंख ही लग गए। वह भट्टे पर जाकर ईंटें स्वयं देखकर आया। सीमेंट-रेत की दुकान पर गया। सब जगह आर्डर दिये। पानी के लिए इंजन किराये पर लाया। उसमें तेल डलवाया। ईंटें, रेत, बजरी नींव पर डलवाई। सीमेंट के बोरे, पड़ोस में पहले से बन चुकी एक दुकान में रखवाए। काम चालू हुआ। वह सारा दिन वहीं खड़ा रहा। किसान शाम को एक बार काम देखने को आया। देखा कि सारा काम ठीक ठाक चल रहा है तो वह हमारे कहानी नायक की मोटर साइकिल पर बस स्टैण्ड पर चला गया और वहाँ से अपने गाँव-घर। दिन छिपने पर जब-सब मजदूर-मिस्त्री घर चले गये तब हमारा कहानी नायक सामान समेट कर अपने घर गया।

अगले दिनों में उसकी जिम्मेदारी और अधिक बढ़ गई। चिनाई सीमेंट में हो रही थी इसलिए जितनी दीवारें खड़ी होती उनकी 'तराई' करनी होती। गर्मी में चिनाई 'तराई' ज्यादा मांगती है। सुबह वह मजदूर-मिस्त्रियों से पहले पहुंच जाता और 'तराई' कर देता। दोपहर में जब मजदूर-मिस्त्री खाना खाते और आराम करते तब भी वह 'तराई' करने लग जाता। लेकिन किसान तो किसान था। फसल के अलावा उसके पास रकम का कोई और जरिया नहीं था। वह उधार से काम चला रहा था। उधार भले बैंक की थी या आढ़तिये की। थी उधार ही। उसका

क्या? देने वाला न जाने कब कह दे कि अब और नहीं। सो उसे उधार देने में आढ़तिया आना-कानी करने लगा। आढ़तिया भी सच्चा था। मंहगाई के जमाने में पैसा अनुमान से बहुत अधिक लग रहा था। फिर उससे तो उधार लेने वाले ऐसे कई किसान थे। वह किस-किस की मांगे पूरी करता? इसलिए उसने बिल्कुल मना कर दिया। उसने किसान से कहा- दुकान बनाना तुम्हारे बस का नहीं। तुम इसे बेच दो। तुम्हारे जितने रुपए लगे हैं उससे तुम्हें दस-बारह लाख ज्यादा मिल जाएँगे। यानी तुम्हें दस-बारह का लाख का शुद्ध मुनाफा हो जाएगा। यह तुम्हारे इतनी मेहनत करने और दुकान अलाटमेंट होने का फल है। आढ़तिये के सब्जबाग में किसान भटकता हुआ नजर आया तो हमारे कहानी नायक ने उसे समझाया, नहीं। भाई जी, नहीं। लेंटर लगते ही बैंक दो लाख का लोन और दे देगा। उस दो लाख से दुकान का शेष काम पूरा हो जाएगा। अब तो तुम अपने को सेठ बना हुआ ही समझो। रही बात दस-बारह लाख कमा कर घर बैठने की तो किसी को पता नहीं चलेगा कि तुम धन वाले हो। बाजार में दुकान होने का रुतबा ही कुछ और है। सारे इलाके में तुम्हारी धूम मच जाएगी। तुम्हारी जाति के कितने किसान है जिनकी बाजार में दुकान है?

किसान ने अपने आढ़तिए से मिन्नतें की। किसी तरह उसे लेंटर डलवा देने के लिए मनाया। लेंटर डलना चालू हुआ। मौके-बे-मौके हजार-दो हजार की लोड पड़ जाती तो हमारा कहानी नायक भी पीछे न हटता। अपनी जेब से लगा देता। आप सोच रहे होंगे कि फेल हुए व्यापारी के पास यूं दूसरों की दुकान पर लगाने के लिए पैसे कहाँ से आए? इसकी भी एक कहानी है। आपको थोड़ी सी वह भी बता दूं। फेल होने के बाद, कोई काम न रहने पर इसने लोगों के रिश्ते करवाने शुरू किए। यानी 'मैरिज ब्यूरो' खोला। लेकिन इसका 'मैरिज ब्यूरो' बिना किसी दफ्तर और रजिस्ट्रेशन फीस के चलता था। घर बैठा लोगों से फोन से सम्पर्क कर लेता। लड़का-लड़की पहले स्वयं देखता। जब इसे लगता कि दोनों का मेल मिल रहा है तो दोनों पार्टियों को मिलवा देता। विवाह होने पर दोनों तरफ से दस-दस हजार मिल जाते। न हींग लगती न फिटकरी, रंग चौखा आता। लेकिन इस प्रक्रिया में समय बहुत लगता था। लोग जल्दी-जल्दी रिश्ता पसंद नहीं करते थे। इसलिए साल में उसके रिश्ते करवाने की औसत दो-तीन ही बैठती थी। इसलिए वह इससे पूरा संतुष्ट नहीं था और दुकान करना चाहता था जो कि उसका पैतृक धंधा था।

जिस दिन दुकान के लेंटर लगा, वह बड़ा खुश हुआ। अपने मोटर साइकिल पर किसान को बैठाकर यहाँ-वहाँ बर्फी का प्रसाद बाँटता फिरा। सोच रहा था-अब तो सेठ बने ही बने। लेकिन जैसा कहते हैं न कि मांगे घी से कहाँ चूरमा बनता है? सो उनकी भी बात बिगड़ गई। आढ़तिए ने दुकान की लिपाई पूरी होने से पहले ही अपना हाथ खींच लिया। वह भी सच्चा था किसान की तरफ उसका कर्जा बहुत बढ़ गया था। दुकान को पूरा करने में अभी लगभग एक लाख का खर्चा और था। अभी ऊपर मुंडेरें खड़ी करनी थी। सीढ़ियों पर छत डालनी थी। खिड़कियां दरवाजें लगाने थे। बिजली-पानी की फिटिंग करवानी थी। आढ़तिए के मना करने पर किसान ने निर्माण स्थल पर आना बंद कर दिया। मिस्त्रियों ने लिपाई का ठेका लिया हुआ था सो वे लगे हुए थे। एक-दो दिन की लिपाई रहने पर सीमेंट-रेत खत्म हो गई। मिस्त्रियों के पास हमारा कहानी नायक था। उन्होंने उसे कहा कि हमारा लिपाई तक का ठेका था। किसी तरह लिपाई पूरी करा लो। हमारा ठेका 'खरा' हो जाएगा। पेमेंट तो जब होगा तब देखा जाएगा। वैसे ठेके वाले बीच-बीच में रुपया लेते रहते थे। उनका तो किसान की तरफ थोड़ा-

बहुत ही था इसलिए वे काम पूरा करने के लिए तैयार थे। अड़चन थी कि रेत-सीमेंट बिल्कुल खत्म हो गई थी। कहानी नायक ने किसान से सम्पर्क किया तो किसान ने जवाब दे दिया कि काम बंद करवा दो। लेकिन उसने काम बंद नहीं करवाया।

वह अपने रसूख पर दस-पन्द्रह हजार की सीमेंट रेत उधार उठा लाया। उसकी सोच थी कि दुकान इतनी जल्दी बिकेगी नहीं और आखिरकार धीरे-धीरे वह किसान को दुकान करने के लिए मना लेगा। उसका सोचना कुछ ठीक भी निकला। दुकान दो-तीन महीनें तक नहीं बिकी। जब तक सांस है, तब तक आस है की तर्ज पर उसका सपना जीवित रहा।

लेकिन तीन महीने बाद एक दिन दुकान बिक गई। उसका सपना टूट गया। जब से उस किसान को दुकान अलाट हुई, तब से लेकर बनने, लिपाई होने और कुछ दिन बाद तक भी वह नए मण्डी यार्ड में हजार बार गया होगा। लेकिन दुकान बिकने के बाद उसने उधर मुँह भी नहीं किया। दुकान के आगे जो पेड़ कभी उसने छाया के लिए लगाया था, वह भी उसके सपने की तरह मुर्झा गया।

संपर्क : वार्ड नं.-6, निकट वन विभाग, पीलीबंगा-335 803, जिला-हनुमानगढ़

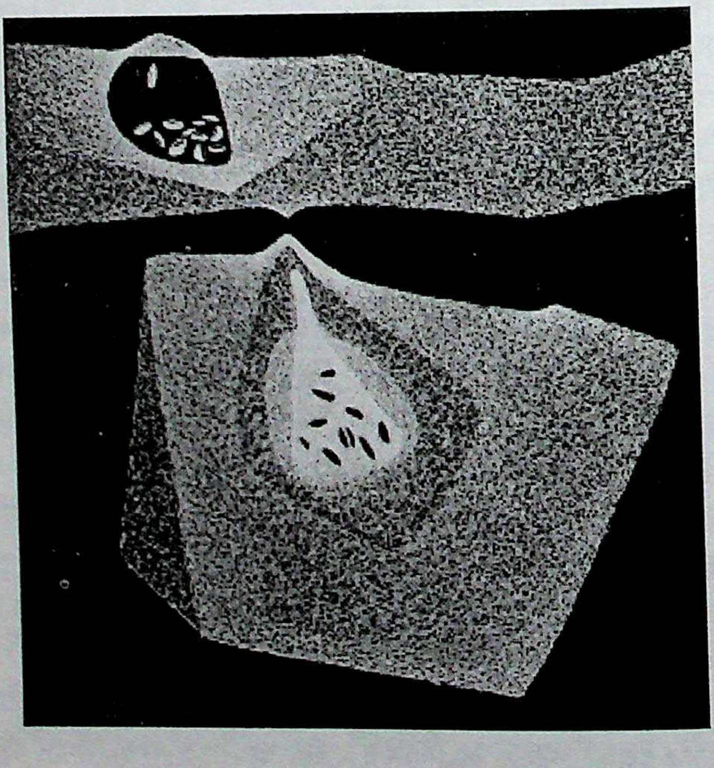

प्रमोद भार्गव

शंका

चाचाजी...!

सुबह-सुबह दरवाजा पीटने से मेरी नींद खुल गई थी। लेकिन मैं समझ नहीं पा रहा था कि गुड्डा इस उकताहट के साथ मुझे क्यों पुकार रहा है। मैंने तत्परता से उठकर दरवाजा खोला। गुड्डा मुझे और द्वार को ठेलता हुआ दो कदम कमरे में घुसकर बोला, 'चाचाजी-चाचाजी...टिल्लू के पापा ने गले में फांसी लगा ली....।'

'क्या.....?'

एकाएक यह कैसे हो सकता है? की संभावना करते हुए मैं चौंक पड़ा।

'अभी मैं डेयरी पर दूध लेने गया था तो सब लोग यही बात कर रहे थे। फिर मैं उनकी गली से ही होकर आया हूँ, उनके घर पर बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई है।'

गुड्डा ने अपनी बात प्रमाणित करने के लिए दो सबूत दे दिए थे। अब उसकी बात पर शक करने की कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी। गुड्डा की खबर सुनते ही मेरी पत्नी भी बिस्तर छोड़कर मेरे बगल में आकर खड़ी हो गई थी। खबर की सत्यता महसूसते ही वह निढाल होकर जहाँ की तहाँ बैठ गई।

मैंने अविलम्ब कुर्ता-पाजामा डाला और पत्नी ने कहा-'जल्दी आओ।'

बाहर निकलने पर मैंने अनुभव किया कि गुड्डा ने खोजी रिपोर्टर की तरह खबर सारे मोहल्ले में फैला दी है। मेरे मकान की सभी औरतें आंगन में इकट्ठी होकर चर्चा में जुट गई थीं। गली की तमाम औरतें

'प्रतिबद्धता लेखन को ईमानदार नहीं बनाती। हम बे-बजह रचना को प्रतिबद्धता के कारण विचारधारा के चौखटे में डाल देते हैं। इस कारण रचना की यथार्थता समाप्त प्रायः हो जाती है। फिर...कोई भी वाद या विचारधारा किसी राष्ट्र को समृद्धशाली नहीं बनाते, राष्ट्र समृद्धशाली बनता है-व्यक्ति की निजी ईमानदारी और राष्ट्रीय दायित्व बोध से।'

भास्कर मास्टर तथा कोयले वाले लालाजी के द्वार पर खड़ी खुसर-फुसर करने लग गई थीं।

मेरे गली से गुजरते वक्त सबकी चौकन्नी निगाहें मुझ पर टिक गई थीं-कुछ-कुछ शंकित-सी। मैंने किसी से कोई जानकारी प्राप्त करने की कोशिश नहीं की, क्योंकि मैं जानता हूँ इस तरह के लोगों पर ज्यादातर कच्ची और मनगढ़ंत जानकारियां होती हैं। अक्सर इस तरह के मामलों में सही और उचित धारणाओं की बजाय गलत और अवैधानिक धारणाएँ गढ़ ली जाती हैं। मैं तीर के निशाने की तरह टिल्लू के पापा की गली में मुड़ गया।

टिल्लू के पापा यानी सतीश भार्गव। सतीश से मेरी बहुत गहरी अथवा बहुत पुरानी दोस्ती नहीं थी। लेकिन नए होते हुए भी हम घनिष्ठ मित्र बन गए थे। उसका साहित्य पढ़ने में रूझान था, जबरदस्त रीडिंग हैविट थी उसमें। मैं थोड़ा -बहुत लिखने के कारण साहित्यिक पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का नियमित ग्राहक तथा पाठक था, इसलिए मेरे निजी पुस्तकालय में चुनी हुई पुस्तकों का अच्छा भंडार था। मार्क्सवादी विचारधारा का उस पर अतिरिक्त प्रभाव था। कुछ मार्क्सवादी साहित्य वह अपने ड्राइंग-रूम की अलमारी में डेकोरेशन पीस की तरह सजाकर रखता था। एक बार उसने मुझसे कहा भी था, 'तुम प्रतिबद्ध होकर मार्क्सवादी लेखन क्यों नहीं करते?'

'प्रतिबद्धता लेखन को ईमानदार नहीं बनाती। हम वे-बजह रचना को प्रतिबद्धता के कारण विचारधारा के चौखटे में डाल देते हैं। इस कारण रचना की यथार्थता समाप्त प्रायः हो जाती है। फिर...कोई भी वाद या विचारधारा किसी राष्ट्र को समृद्धशाली नहीं बनाते, राष्ट्र समृद्धशाली बनता है-व्यक्ति की निजी ईमानदारी और राष्ट्रीय दायित्व बोध से।'

उस दिन मुझे अहसास हुआ था कि सतीश की मानसिकता पर मेरी बात ने कहीं गहरा असर किया है। उसके बाद उसने मुझसे कभी प्रतिबद्ध लेखन करने का आग्रह नहीं किया।

सतीश को इस शहर में आये हुए यह चौथा वर्ष था। अपनी जन्मभूमि शाजापुर से स्थानांतरित होकर वह शिवपुरी आया था। शिवपुरी का अपना यह आकर्षण है कि जो भी अधिकारी, कर्मचारी एक बार यहाँ आ जाता है, फिर स्थायी तौर पर बसने की उसकी तमन्ना बलवती हो उठती है। भ्रष्ट लोगों को नम्बर दो का पैसा खपाने की और किसी काम में कोई ठीक-ठाक गुंजाइश नहीं दिखती, सो वे किसी अच्छी कालोनी में मुँह मांगे दाम देकर प्लॉट खरीद लेते हैं और आलीशान कोठी या बंगला तान देते हैं। इन भ्रष्टाचारियों के भवनों की आधारशिला रखने के लिए इस रमणीय शहर से जुड़े खेतिहरों को थोड़ा बहुत आर्थिक लाभ मुहैया कराकर पूंजीपतियों ने बे-दखल किया और वैध-अवैध कालोनियों का निर्माण कर डाला। सीमित व्यवस्थाओं एवं साधनों के बीच अत्याधिक बसीगत होने के कारण यह शहर तमाम बुनियादी समस्याओं एवं प्रदूषण का शिकार होता जा रहा है।

मेरे घनिष्ठ मित्र सतीश ने भी चार माह पूर्व 6 लाख का प्लाट 95 हजार की रजिस्ट्री कराकर खरीदा था और वर्तमान में वह प्लॉट पर अच्छे नक्शे का मकान बनवा रहा था। कभी-कभी मैं भी अचंभित होकर सोचता कि यह कैशियर जैसी छोटी-सी पोस्ट पर काम करने वाला आदमी कैसे अच्छे ढंग से रह लेता है और कैसे मकान बनवा रहा है? इस रहस्य के बारे में न कभी उसने बताया और न कभी मैंने जानने की कोशिश की। किसी व्यक्ति के निजी जीवन की अंदरूनी परतें खोलना मेरे स्वभाव में नहीं था।

सतीश के घर वाली गली में पहुंचते ही मैंने देखा, गली में ठसाठस जन मानस उमड़ रहा है। पैर रखने को भी जगह नहीं है। मकानों की बालकनियों भी औरतों-बच्चों से भरी हुई हैं। मृतक की लाश को एक बार देख लेने की सबकी गहरी लालसा है।

जब भी इस शहर में कोई दुर्घटनाग्रस्त होकर अकाल मौत मरता है, तब इस शहर के लोग मृतक की डेड बॉडी के दर्शन करने के लिए बेहद उतावले हो जाते हैं। शहर के अच्छे-अच्छे जीनियस लोगों में मैंने यह

उतावलापन देखा है। ऐसे लोगों का व्यक्तित्व भले ही देश-समाज के लिए महत्वपूर्ण रहा हो अथवा न रहा हो, महत्वपूर्ण होता है सिर्फ मृत्यु का कारण-हत्या है, आत्महत्या है, पुलिस का शिकार है। अभी पुलिस ने कुछ दिन पूर्व मुठभेड़ में डाकू मारे थे- फिर उनकी लाशें को खाटों से बांधकर पोलोग्राउंड में प्रदर्शन भी किया। बिना किसी ऐलान के पुलिस की बहादुरी की खबर हवा की तरह सारे शहर में फैल गई। जन-समूह उमड़ पड़ा। पोलोग्राउंड के पास में जितने भी सरकारी कार्यालय थे, उनके सभी कर्मचारी अपने-अपने काम छोड़कर पोलोग्राउंड भागे। ऐसा लग रहा था मानों डाकूओं की नहीं, किसी महान देश-भक्त की मृत्यु हुई हो।

इस घटना के कुछ दिन ही बाद महान स्वतंत्रता संग्राम सेनानी मिश्राजी की स्वाभाविक मृत्यु हुई थी। आजादी की लड़ाई में उनका सराहनीय योगदान रहा था। नेताजी सुभाषचंद्र बोस के भाषणों से प्रभावित होकर उन्होंने ब्रिटिश सरकार के बिल्ले-तमगों को उतार फेंककर पैरों से रौंद दिया था। और ब्रिटिश आर्मी के मेजर जनरल पद को ठोकर मारकर नेताजी की शरण में पहुँच आजाद हिंद फौज के साधारण सिपाही बन गए थे। कई मोर्चों पर उन्होंने जमकर ब्रिटिश हुकूमत से युद्ध किया था। बायीं बाजू में गोली भी लगी, जिससे उनका एक हाथ सदा के लिए बेकार हो गया था। बाद में दिल्ली के लालकिले में मुकदमा भी चला। वहाँ से मुक्ति के बाद उन्होंने घर-गृहस्थी के बंधनों में बंधने की बजाए आजीवन देश सेवा का व्रत ले लिया और शिवपुरी जैसी छोटी-सी जगह में आकर बस गये। लेकिन उनकी अंतिम क्रिया में बमुश्किल बीस आदमी रहे होंगे।

ऐसी परिस्थिति में मुझे अपने शहर के लोगों की ही नहीं, पूरे देश की मानसिकता विकृत लगती है। जिस व्यक्ति के निर्वाण-उत्सर्ग के प्रति हमें श्रद्धाजंलि अर्पित कर कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए, उनकी तो हम अवहेलना करते हैं और जो देश समाज के लिए जीवन भर घातक रहते हैं। उनके हम अनावश्यक महत्व देते हैं।

जैसे-जैसे भीड़ को ठेल-टालकर मैं सतीश के घर तक पहुँचा। दरवाजे पर दो सिपाही खड़े हुए थे। बगल में ही कुर्सी पर पसरे-पसरे दरोगाजी सिगरेट फूंक रहे थे, इस सारे मातमी माहौल से निर्लिप्त होकर। मुझे देखते ही सतीश के दोनों बच्चे-'अंकलजी...अंकलजी' कहते हुए मेरे पैरों से लिपट गए। मेरा पूरा शरीर अजीब-सी कंपकंपा देने वाली सिहरन से भरकर रोमांचित हो उठा और मैंने मन में ही कहा-क्या कायरतापूर्ण हरकत की तुमने, सतीश? बच्चों के सिर पर मैंने स्नेह-भरा हाथ फेरा, गालों पर दुलार-भरे चुम्बन दिए और उन्हें छाती से चिपका लिया।

ड्रेसिंग रूम में अनेक औरतें सतीश की पत्नी को सम्भाले हुए विलाप कर रही थीं। वे बेहोश थीं, उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। बाल बिखरकर रूप को विकराल बना रहे थे। जब एकाएक उनकी बेहोशी टूटती तो वे अपनी पूरी ताकत से चिल्ला पड़ती, 'कहाँ गए तुम...? इन दूधमुँहों को लिये मैं। किस-किस के द्वार पर भटकूँगी....?हाय, बच्चों का तो जरा ख्याल करते....? हे भगवान, तू भी कितना निष्ठुर हो गया है...'

मेरे शरीर का रोम-रोम सिहर उठा था। मैं अपने को बहुत भारी महसूस कर रहा था। अचानक फुसफुसाहट के साथ कुछ शब्द मेरे कानों से टकराए-'यही बैठा रहता था रात-रात भर...।' मुझे अपने पैरों तले की जमीन खिसकती-सी लगी मगर मैं। जैसे-तैसे संयत रहते हुए स्टोर-रूम के द्वार पर था।

मेरी आँखों के सामने सतीश की झूलती हुई लाश थी। इस तरह के भयावह दृश्य से साक्षात्कार करने का यह मेरा पहला अवसर था, सकते में आकर कुछ क्षणों के लिए मैं जड़ हो गया था। फोटोग्राफर विभिन्न एंगिल्स पर कैमरा केन्द्रित कर फ्लैश फेंक रहा था। इस चकाचौंध में मैं सतीश को विस्फारित नेत्रों से घूरता रहा। सुख और सुविधाओं के उपकरणों से भरे इस कमरे की एक-एक वस्तु कितनी खामोश, जड़ और निष्क्रिय सी हो गई थी, बस, शून्य अंधेरे के विवर बन मिट रहे थे।

लड़खड़ाते कदमों से बाहर निकलते हुए फिर कुछ शब्द मेरे कर्णपटों से टकराये, 'आज रात भी आधी रात तक यहीं था....। राम जाने का खिचड़ी पकाते रहे रात भर, अब देखो रांड खसम खाकर कैसी सत्ती भई जा रही है...' मैंने उस औरत की ओर पलटकर देखा-मेरी आँखें मिलते ही उसने नजरें झुका ली थीं और घूंघट खींचकर चेहरा ढक लिया था। उसकी यह हरकत सफेद झूठ पर पर्दा डालने की कोशिश थी। मेरे शरीर में क्षणिक उत्तेजना आई और फिर क्षणिक व्यंग्यात्मक सोच और मैं बाहर निकल गया।

मेरे बाहर आते ही मेरी पत्नी अंदर प्रविष्ट हो गई थी। मैं समझ गया था यहाँ की कुचर्चाओं का पत्नी के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और शाम को अंतर्द्वन्द्व से मेरा सामना करना मुश्किल हो जाएगा। पर मैं जानता था कि मैं कहीं गलत नहीं हूँ। इसीलिए किसी प्रकार की अस्थिरता या घबराहट मेरे अंदर पैदा नहीं हुई।

और फिर व्यस्तताओं में खड़े-खड़े पूरा दिन ही गुजर गया। पोस्टमार्टम के लिए लाश को अस्पताल ले जाना, रिपोर्ट लेना, फिर लाश को लाना, फिर अंतिम क्रिया के तमाम सामान जुटाना। इस बीच मेरी आँखों के सामने जो भयंकर विद्रूप दृश्य था अर्थी पर सतीश की पत्नी की कलाइयां पटकवाकर चूड़ियां फुड़वाना। कितनी अमानवीय परंपरा...! तमाम जगहों से उसकी कलाइयों से खून रिसने लगा था। अंतत: आर्त चीखों के बीच यह दुखद प्रक्रिया मुझसे देखी नहीं गई थी और मैंने आँखे मींच ली थीं। शाम लगभग छ: बजे हम बारह-पन्द्रह लोग अर्थी लेकर शमशान भूमि गए थे और कपाल-क्रिया करने के बाद रात लगभग दस बजे लौटे थे।

अपनी गली आज मुझे कुछ ज्यादा ही सन्नाटे में डूबी हुई प्रतीत हो रही थी। गली के दोनों ओर खड़े बहुमंजिले मकान दैत्याकार लग रहे थे। अजीब दार्शनिक चिंतन-मनन की अंर्तव्यथा के बीच मैंने अपने घर के मुख्यद्वार का शटर खींचा और पत्नी को आवाज दी 'प्रभा...!'

कोई जवाब नहीं आने पर मैंने पुन: गुहारा, 'प्रभा...!'

किंतु इस बार भी कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला। मैंने सोचा, शायद प्रभा ऊपर हो...किंतु ऊपर वह हमेशा ताला लगाकर जाती है और इस समय दरवाजे पर ताला नहीं लगा था। यहाँ तक कि बाहर से कुंडी भी नहीं चढ़ी थी। किवाड़ों को मैंने जैसे ही धकियाया, खुलते चले गए। कमरे में घुप्प अंधेरा था। लाइट जलाने पर देखा तो प्रभा पलंग पर सोयी हुई थी। सीलिंग फैन अपनी पूरी गति से चल रहा था। मुझे आश्चर्य हुआ, आज के दुख और विषाद भरे माहौल में प्रभा इतनी गहरी नींद सो कैसे गई, जबकि आज तो हमारे पास चर्चा करने के लिए ताजा विषय था। ताजा विषय नहीं हैं होने पर भी हम रोज सोते समय घंटे-दो घंटे किसी न किसी विषय पर प्रेम पूर्वक बातें करते। हालांकि इस तरह की रोज-रोज की बातों में पुनरावृत्ति के अलावा कुछ नहीं होता था। लेकिन हमारा एक-दूसरे के प्रति आकर्षण इतना था कि हम गलबहियां डाले घंटें बतियाते रहते।

'प्रभा, उठो न, देखो मैं कितनी देर से खड़ा हूँ....।'

'क्यों चिल्ला रहे हो बेकार में....आंगन में बाल्टी, साबुन, कपड़े रखे हैं.....जाकर नहा लो और सो जाओ।'

मैं एकाएक चौंककर सन्न रह गया। यह रौब... यह रूतबा.... नहीं-नहीं, यह प्रभा नहीं हो सकती। लोच और मधुरिमा से बिद्ध उसकी वाणी एकदम खरी खोटी कैसे हो सकती है? वह भी मेरे प्रति। खैर, मैं फिलहाल स्वयं को अशुद्ध और क्लांत महसूस कर रहा था सो मैंने कुछ बोलना उचित नहीं समझा। चुपचाप आंगन में पहुंच नल के नीचे बाल्टी लगाई और स्नान करने लगा। पानी की तरलता ने पूरे शरीर में शीतलता का संचार किया और मैंने शरीर में एक नयी ताजगी का अनुभव किया।

अब मैं प्रभा के निकट था। प्रभा के सिर के पास बैठकर मैंने उसका सिर अपनी गोदी में रखा और बालों

में हाथ फिराने लगा। प्रभा ने बेदर्दी से मेरा हाथ झटक दिया और गोदी से उठाकर तकिये पर रखते हुए बोली, 'बहुत हो गया नाटक...! तुम कितने नीच और कमीने हो, यह तो आज पता लगा?'

प्रभा का यह परिवर्तित आचरण निःसंदेह मुझे चौकाने वाला था। उसकी आँखों में क्रोधाग्नि के लाल डोरे देखकर मैंने अंदाज लगाया-जरूर कहीं कोई गड़बड़ है। अब मुझे शांत रहकर उसकी मनःस्थिति को समझना था। हमारे सफल दाम्पत्य जीवन का यह मनोवैज्ञानिक कारण था कि किसी के गुस्सा होने पर एक शांत रहकर मुस्कराता रहता था। ऐसा नहीं था कि आज पहली बार मुझे प्रभा ने नीच-कमीना कहा हो। एक-दूसरे को हमने खूब-खूब गालियां दी हैं-गंदी-गंदी। लेकिन इस तरह का माहौल हमेशा ही बनावटी तथा गढ़ा हुआ होता था। हम मनोरंजन के लिए, एक-दूसरे से आत्मसात बनाये रखने के लिए लड़ते-झगड़ते थे। हमारा यह झगड़ा जितना ज्यादा लंबे समय तक चलता, समाप्त होने पर उससे भी ज्यादा लंबे समय तक हम प्यार करते। सिर्फ प्यार। अमृतमय स्वच्छंद सरोवर में डूबते-उतारते प्रेम के इन क्षणों के लिए हमारा यह प्रयास रहता कि ये क्षण सदा-सदा के लिए ऐसे ही वर्तमान बने रहें।

'आखिर बात क्या है प्रभा?....'

'पूछो मेरी सौत से जाकर.....'

प्रभा के मुँह से सड़क छाप औरतों की तरह बात सुनकर मेरा माथ ठनका। सतीश के घर पर मुझे लेकर औरतें जिस तरह की चर्चाएँ कर रही थीं, उन्हीं का प्रभाव प्रभा पर स्पष्ट परिलक्षित था। मैं समझ गया सतीश की पत्नी और मुझे लेकर अवैध सम्बन्धों की कथाएँ गढ़कर प्रभा को गलतफहमी का शिकार बनाया गया है और फिलहाल प्रभा शंकालु तीरों की शिकार हो गई है। जरूर इस तरह की झूठी महिमा गढ़ने में हमारे समाज की औरतें आगे रही होंगी। क्योंकि हमारे समाज का कोई अपना चरित्र है न निश्चित दृष्टिकोण और न कोई राष्ट्रव्यापी लक्ष्य। पति-पत्नी और बच्चों तक ही सीमित रहने वाले इस समाज के लोग जब कोई श्रेष्ठ उपलब्धि हासिल नहीं कर पाते तब उनके लिए सारी श्रेष्ठता, चरित्रता, शारीरिक चरित्र पर केन्द्रित होकर रह जाती है। वह भी स्त्री के चरित्र को लेकर कुछ ज्यादा ही मर्यादित और कठोर होती है जबकि मेरे लिए शारीरिक चरित्र गौण है, राष्ट्रीय चरित्र श्रेष्ठ।

ऐसे नाजुक क्षणों में मुझे संतुलित दिमाग से काम लेना था, वरना दाम्पत्य जीवन के दरक जाने का भय था।

'प्रभा, आखिर बात क्या हुई, कुछ मुझे भी बताओ न...?'

'मैं क्या बताऊंगी...? पूछ लो मोहल्ले की सारी औरतों से, सारे समाज की औरतों से, जिनमें तुम और तुम्हारा कुनबा नाक चढ़ाये घूमता है।' वह मोर्चा सम्भालते हुए मेरे सामने बैठ गई थी।

'देखो....अब बहुत हो गया। व्यर्थ मुँह फुलाने की बजाय जो भी कहना है, ठीक-ठीक कहो!' मैं डपटते हुए बोला था।

'जानते हो, सारी की सारी औरतें इस दुर्घटना का कारण तुम्हें मान रही हैं।... बल्कि कुछ तो....'

'हाँ-हाँ, बोलो, कुछ तो क्या?'

'कुछ तो यहाँ तक कह रही थीं कि यह आत्महत्या नहीं, हत्या है...और इसमें तुम्हारा हाथ है।'

प्रभा की आँखें भर आईं थीं। उसने सिसकते हुए मेरी गोदी में सिर रख दिया था। कुछ क्षणों के लिए मेरी सांस जहाँ की तहाँ थम गई थी। अंधेरे के वृत मेरी आँखों के सामने मंडरा रहे थे। सिसकते हुए ही वह पुनः बोली, 'मेरा तो वहाँ एक-एक क्षण बैठना दूभर हो गया, राज....!'

मेरी समझ में नहीं आ रहा था, लोग मृतात्मा के प्रति शोक-संवेदना प्रकट करने जाते हैं या उसका अपनी कुत्सित मानसिकता के अनुरूप मनगंढ़त चरित्र गढ़ने। अभी किसी कहने वाले व्यक्ति से कह दिया जाये कि आपकी बातें सही हैं तो चलिए थाने में चलकर बयान लिखाइये...सब-कै-सब बगलें झांकने लगेंगे। कायर चरित्रता अटकलबाजियों के अलावा और कोई साहसपूर्ण

कदम नहीं उठा सकती।

'प्रभा...!'

'हाँ...!'

'मैं कल रात कितने बजे घर आ गया था?'

'यही कोई साढ़े दस-ग्यारह बजे के बीच।'

'फिर तो मैं सारी रात तुम्हारे साथ था न?'

'हाँ...फिर तो हम गुड्डा के पुकारने पर ही सोकर उठे थे?'

'पोस्टमार्टम रिपोर्ट के मुताबिक सतीश ने डेढ़ और दो बजे के बीच आत्महत्या की है। रिपोर्ट में यह स्पष्ट है कि मौत गला कसने के कारण ही हुई है।'

'फिर ये औरतें तुम पर क्यों शक कर रही हैं?'

प्रभा चुप हो गई थी। उसकी बौखलाहट संयम और धैर्य में परिवर्तित हो रही थी। मुझे अनुभूति हो रही थी कि प्रभा की लौटी चेतना मेरे प्रति आश्वस्त होती जा रही है।

'देखो, अब किसी की जुबान तो मैं पकड़ नहीं सकता। लेकिन एक बात जरा गौर से सोचो-कल तक तो ये औरतें मेरे बारे में कुछ नहीं कहती थीं, आज अचानक परिस्थिति बदल जाने के कारण इनकी भावना ही बदल गई। विचारधारा ही बदल गई।'

'हाँ, ये तो है। लेकिन उन्होंने आत्महत्या की क्यों?'

'हाँ, यह एक सोचने का कारण हो सकता है। फिर पत्रादि भी तो वह कोई लिखकर नहीं छोड़ गया। लेकिन जहाँ तक मैं उसे और उसके परिवार के बारे में जानता हूँ तो ऐसा महसूस करता हूँ कि कारण जो भी रहा हो, ऑफिशियल या अन्य होना चाहिए। देखो, शायद डाक में कोई चिट्ठी डाली हो। लोकल डाक होगी तो बहुत कल नहीं तो परसों तक मिल ही जाएगी।'

'मेरा तो दिमाग सारे दिन से न जाने कैसा-कैसा हो रहा थ। लग रहा था, नसें अब फटीं...अब फटीं। अब जाकर कुछ शांति मिली है।'

प्रभा को मानसिक रूप से संतुलित होते देख मैंने चैन की सांस ली और कहा, 'अब तुम सो जाओ। दिन भर गहरे तनाव से गुजरी हो।'

'अरे, मैं भी कैसी पागल हूँ, तुमने सारे दिन से कुछ खाया-पीया भी नहीं होगा और मैं बिना सोचे-विचारे मूर्खओं की बातों में आकर अपना रोना लेकर बैठ गई। अभी आधा घंटे में फटाफट खाना बनाये देती हूँ।'

प्रभा के शरीर में सामान्य फूर्ती और प्रफुल्लता देखकर मेरे शरीर और मन की थकान लुप्त होने लगी थी।

दूसरे दिन का सवेरा और दिनों की भांति ही सामान्य था। प्रभा मुझसे कुछ समय पूर्व उठ गई थी। उसने चाय से भरा गिलास मेरे पास रखते हुए दुलार से कहा था।

'अब उठो न, चाय ठंडी हो जाएगी।'

मैं उठ गया था। प्रभा के साथ चाय पी। फिर दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर सतीश के घर की ओर चल दिया।

सतीश के माता-पिता और भाई तो कल ही आ गए थे। उनसे मैं पूर्व से ही परिचित था। एक माह पूर्व ही तो जब सतीश ने अपने मकान की आधारशिला रखी थी, तब वे आये थे और लगभग एक सप्ताह रूके थे। गृह प्रवेश से पूर्व उन्हें बेटे की अंतिम क्रिया में आना पड़ेगा।

घर पहुंचने पर मैं सतीश के पिता को मौन अभिवादन करता हूँ। वे मुझे सोफे पर बैठने का संकेत करते हैं। मैं बैठ जाता हूँ। उनके चेहरे पर धैर्य, शांति, गंभीर्य और दृढ़ता का अद्भुत सामंजस्य है। इस दर्दनाक दुखांत परिस्थिति में मैंने एक क्षण के लिए भी उनका मानसिक संतुलन विचलित होते हुए नहीं देखा। उन्होंने आते ही सबसे पहले सतीश की पत्नी का ख्याल किया। उसके सिर पर हाथ फिराते हुए सांत्वना दी, 'सब भाग्य का खेल है, बेटा....! धैर्य रख। मैं जब तक जिंदा हूँ तुझे अपनी और बच्चों की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है।' फिर उन्होंने अपने हाथों से बच्चों की कसम दिलाकर उन्हें एक गिलास जूस पिलाया।

मुझे लगा था, इस पूरे जनसमूह में सतीश की

पत्नी के प्रति सही संवेदना-सहानुभूति रही है तो वह सतीश के पिता की। बुजुर्गियत, बड़प्पन और स्नेह से भरा यही वरदहस्त सतीश की पत्नी में जीवन-शक्ति का संचार कर सकता है। बाकी आर्त चीखें तो एक कायरना मातमी माहौल पैदा भर करने के लिए ही थीं। तिस पर भी संदिग्ध परिस्थिति। पूरा माहौल क्षुद्र औरतों ने सतीश की पत्नी के विरुद्ध रच दिया था। लगभग सभी रिश्तेदार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सतीश की हत्या अथवा आत्महत्या का कारण सतीश की पत्नी का चरित्रहीन होना ही मान रहे थे। साथ में यह दलील भी दे रहे थे, 'वरना क्या जरूरत थी ऐसे धीर-गंभीर कमाऊ सपूत को मरने की। लोग सारा जीवन किराये के मकान में गुजार देते हैं। सर ढंकने के लिए अपनी एक झोपड़ी तक नहीं बना पाते। और उसे देखो, पॉश कालोनी में क्या शानदार मकान बनवा रहा था। रहता भी क्या ठाट-बाट से था....कोई खानदानी रईस भी क्या रहेगा? पुरुष के भाग्य और स्त्री के चरित्र को देव भी नहीं जान सके।' सतीश की माँ तो चिल्ला-चिल्ला कर कई बार ताने मार चुकी थीं, 'हे भगवान, इस कुलच्छनी का काला मुँह देखने से पहले तूने मेरी आँखें क्यों नहीं मूंद दीं? यह बुढ़ापा खोटा होने से पहले मुझे उठा लेता...।'

सतीश के पिता को यह सब सुनना कतई बरदाश्त न होता। वे माँ जी को डाँटते हुए कहते, 'चुप भी रहो, सतीश की माँ...। क्या दुनिया की बातों में आकर उलटा-सीधा बके जा रही हो। तुम्हारा क्या है, तुम्हारी तो चार दिन की जिंदगी शेष है। उस बेचारी की सोचो, उस पर क्या गुजर रही होगी...? उसके सामने तो अभी पहाड़ जैसी जिंदगी है.... और नन्हें-मुन्नों का साथ....। अभी तो उसकी उम्र ही खेलने-खाने की है...?'

उनकी फटकार से कुछ समय के लिए मौन सन्नाटा छा जाता। पर उनके जरा देर के लिए इधर-उधर होते ही द्वेष-विद्वेष, आरोप-प्रत्यारोप की पुनरावृत्ति होने लगती।

सारा दिन ऐसे ही गुजर गया। उम्मीद थी डाक से शायद सतीश का कोई पत्र प्राप्त हो, पर हुआ नहीं।

आज भी मेरी पत्नी की मन:स्थिति तनावपूर्ण रही। हालांकि आज उसके किसी प्रकार की आंशका जाहिर नहीं की थी, पर उसके हाव-भाव से ऐसा जाहिर हो रहा था कि अभी भी वह मेरे पाक-चरित्र होने के प्रति पूरी तरह आश्वस्त नहीं है। उसके चेहरे की व्यथा स्पष्ट संकेत दे रही थी कि वह अजीब कशमकश की मन:स्थिति से गुजर रही है। मैंने उसे कुरेदना कतई उचित नहीं समझा। चुप रहने में ही मैंने दोनों की भलाई समझी।

अगले दिन अचानक अप्रत्याशित रूप से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई...

बैंक खुलने के साथ ही, बैंक के एक चपरासी ने जो दो दिन से छुट्टी पर था, बैंक मैंनेजर के सामने तीन लिफाफे रखते हुए कहा, 'ये तीनों लिफाफे मुझे नरसों भार्गव साहब ने रजिस्टर्ड डाक से भेजने के लिए दिए थे। साथ में पचास रुपये का एक नोट भी दिया था। किंतु नरसों देर से पोस्ट ऑफिस पहुंचने के कारण रजिस्ट्रियां नहीं ली गईं। अत: मैं अगले दिन रजिस्ट्रियां करने की सोच घर चला गया। उसी रात मुझे अपने एक रिश्तेदार के साथ किसी बहुत जरूरी काम से ग्वालियर जाना पड़ गया। उस दिन हड़बड़ाहट में रजिस्ट्रीयाँ की बात भूल ही गया। ग्वालियर से लौटने पर मुझे भार्गव साहब के साथ घटी दुर्घटना के बारे में समाचार मिला, जब मैंने इन लिफाफे को शंका की दृष्टि से देखा और डाक से भेजने की बजाए सीधे आपके पास ले आया।'

उन तीन लिफाफों में एक बैंक मैंनेजर के नाम और एक-एक एसपी तथा कलेक्टर के नाम थे। मैंनेजर ने तुरंत एसपी को सूचना दी। कुछ समय बाद पुलिस कस्टडी में तीनों लिफाफे खोले गए। उन तीनों लिफाफों में सतीश की हस्तलिपि में लिखा एक ही प्रकार का मजमून था- 'मैं अपने संबंधितों और साथियों में अपनी प्रतिष्ठा बनाना चाहता था। इस प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए मैंने बैंक से नकली ड्राफ्ट्स के जरिये दो लाख की हेरा-फेरी की। प्रतिष्ठा तो मेरी बनने लगी थी...किंतु चोरी पकड़ी जाने का डर मेरे मन-मस्तिष्क पर बुरी तरह हावी हो

गया। एक-एक पल मेरा चैन से गुजारना दुर्लभ हो गया था। अंततः मैंने इस तनाव से मुक्ति पाने के लिए आत्महत्या का उपाय ही ठीक समझा है और आज रात मैंने अपनी जिंदगी को समाप्त करने का निश्चय कर लिया है...

मेरी पत्नी पर किसी प्रकार का शक न किया जाए। वह इस घोटाले में किसी भी रूप से शरीक नहीं है।'

नीचे सतीश के हस्ताक्षर और तारीख थी। सभी हतप्रभ रह गये।

सतीश के लिखे पत्रों से विवाद का खुलासा हो जाने के बाद मेरी पत्नी का व्यवहार मेरे प्रति बिल्कुल सामान्य हो गया था, बल्कि सगर्व मुझसे बोली थी, 'मुझे तो पहले ही विश्वास था, राज तुम ऐसे हो ही नहीं सकते।' अब हमारा दाम्पत्य जीवन तोड़ देने वाली खबरों से मुक्त हो गया था।

सतीश की तेहरवीं के बाद उन्होंने यह शहर छोड़कर शाजापुर में ही रहने का निश्चयकर लिया था। पत्रों द्वारा मृत्यु का खुलासा हो जाने के बाद सतीश के पिता बेहद टूट गये थे। पत्र पढ़ते ही उन्होंने कहा था, 'राष्ट्र के साथ विश्वासघात, धोखाधड़ी सबसे बड़ा पाप है। इस उम्र में देशद्रोह कर मेरे माथे पर कलंक का टीका लगा गया। इस स्थिति से अब शायद ही मैं उभर पाऊँ।' उन्होंने मकान की रजिस्ट्री बैंक के हवाले कर दी थी।

सतीश की पत्नी की अब चेतना लौट आई थी। वे स्वस्थ दिखने लगी थीं। घरेलू कार्यों में हाथ बटाने के साथ-साथ उन्होंने घर आने वालों से बोल-चाल भी प्रारंभ कर दी थी। मात्र समाज में ऊँचा दिखने के लिए भोग विलास की वस्तुएँ जुटाने के लिए सतीश द्वारा किया गया गवन उन्हें नितांत निम्न हरकत लगी। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वे पूरे आत्मबल और साहस के साथ स्वयं के बल-बूते पर जियेगी और बच्चों को उचित शिक्षा देगी।

उनके निर्णय से अवगत होने के बाद उनके प्रति मेरे अंदर श्रद्धा पैदा हो गई। मैंने सोचा-मेरे सम्पर्क की तमाम औरतों में मात्र सतीश की पत्नी ही चरित्रवान और सम्मानीय स्त्री है। मेरी इच्छा हुई, झुककर उनकी चरण-रज ले लूं।

संपर्क : शब्दार्थ, 49 श्रीराम कालोनी, शिवपुरी (म.प्र.)- 473 551

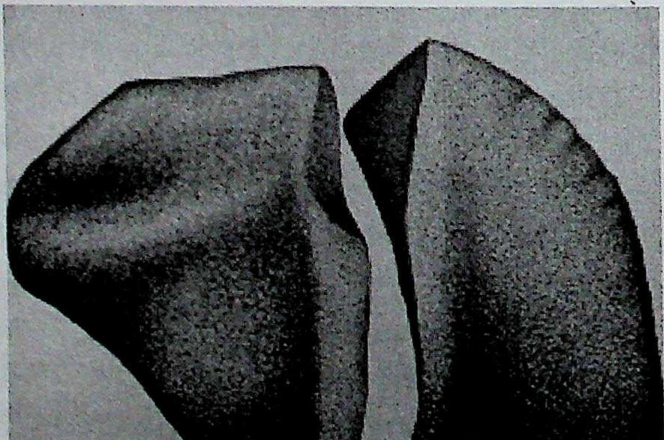

कुमार रवीन्द्र

यही ही नहीं

यही ही नहीं
और भी बहुत कुछ है इस घर में

गूँज आरती की अम्मा की
किस्से हैं दादी-नानी के
पूजा-पाठ बड़े बाबा के
चर्चे संतों की बानी के

याद पुरानी—
हमने पहली मछली देखी थी पोखर में

बड़के भैया की शादी में
पहली बार सुनी शहनाई
बड़ी बुआ ने कभी न आने की, हाँ
कसम तभी थी खाई

कहा-सुनी थी हुई
उसी दिन बाबू जी की भी दफ़्तर में

आते थे मेहमान यहाँ जो
उनकी भी यादें हैं इसमें

बसी हुई हैं यहीं प्यार की
किसिम-किसिम की पिछली रस्में

पिछले कई
पुराने रिश्ते मिले यहीं थे कल दुपहर में।

और सोई-हुई घाटी

घुप अँधेरा
और सोई-हुई घाटी
झील के तट पर खड़े हैं थिर शिकारे

दूर पर्वत के सिरे पर
कौंध बिजली की दिखी है
सोनरेखा से किसी ने
लगा, रितु-गाथा लिखी है

उधर जंगल में
हवा ने करवटें लीं
कहीं मोहन-मंत्र वंशी ने उचारे

अभी है एकांत चारों ओर
सुख भी हैं अधूरे
उमस है आबोहवा में
अभी होंगे स्वप्न पूरे

आयेगी बरखा
उमड़ कर
एक छोटी-सी घटा उमगी किनारे

झील पर है गिरी पहली बूँद
औचक मोर कूका
बादलों के देवता ने
लो गरज़ कर शंख फूँका

जग गया है
कहीं बच्चा एक
बरसों बाद, लो, भीतर हमारे।

एक ऋतु का वृक्ष

एक ऋतु का वृक्ष है, सखि
ठीक घर के सामने

सगुनपाखी ने बनाया
कल उसी पर घोंसला है
फूल आए रात उस पर
पुण्य भी अपना फला है

नीड़ में हैं चिड़ी ने
इस सुबह ही बच्चे जने

देखती है
रोज़ चढ़ कर उसी पर
नन्हीं गिलहरी
धूप बरखा-बाद की
होती भला कितनी सुनहरी

या उजाले रात-पूनो के
हुए कितने घने

वृक्ष साखी नेह का
जो उम्र-भर हमने जिया है
उसकी की तो जोत देता
देह का अपना दिया है

ज़िक्र करते उसी का है
सखी, घर के आगने।

दिन था संगीत हुआ

चलो
चलें वहाँ
जहाँ दिन था संगीत हुआ

हाथ पकड़ उतरे थे
हम दोनों
उस सुरम्य घाटी में

नये-नये अचरज
सँग खोजे थे
हमने उस माटी में

सोते में तैर-रहे
सूरज को
हमने था वहीं छुआ

आसपास के पहाड़
चौंके थे
देख हमें सँग गाते
उन्हीं दिनों
नये जुड़े थे अपने
सपनों से भी नाते

बैठा था
नीचे की डाल पर
देख हमें उड़ा सुआ

हम दोनों थे
आदिम मानुष की गंध हुए
पल-भर को
गीत हुई थीं साँसें
दिन-भर फिर
बाँच ढाई आखर को

उससे ही
देह-वृक्ष पर, सजनी
उपजा था ऋतु-अँखुआ।

संपर्क : क्षितिज 310, अर्बन एस्टेट-2, हिसार-125005
मो. 09416993264

मोहन सगोरिया

वृक्षों से छाया मिलती है

वृक्षों से छाया मिलती है
पर आँचल की बात और है

एक दिशा ने क्रंदन उगला
इक ने नीरवता पी डाली
एक ने दिन में रंग भरे हैं
इक ने रातें कर दी काली

भूमण्डल यह क्या जानेगा
प्रसव पीड़ा दोनों की भिन्न है
उदयाचल की बात और है
अस्ताचल की बात और है

मृत्यु का मल्हार सुना है
जीवन के बंजर भागों में
और पिरोये कितने मोती
पृथक विचारों के धागों में

कितने ही सोपान लिखे हैं
कितने दर्शन अपनाये हैं
आँसू से मन धुल जाता है
गंगाजल की बात और है।

जब-जब जग की पढ़ी डायरी

अवसर बहुत से आये लेकिन
दे न सका उनको सम्बोधन।
कुछ भी समझ न पाया क्योंकि
क्षण-क्षण में होता परिवर्तन।

जीवन के पथ टेढ़े-तिरछे
भटक गया मैं ऐसा राही
अपना साया लगे पराया
औ' दूजा लगे अपना ही
पंगु बना हूँ जिस पथ का मैं
उसको कैसे दूँ निर्देशन।

एक सदी से यश को लेकर
मैं प्यासा, दुनिया भी प्यासी
दोनों को भावी पीढ़ी से
उम्मीदें हैं ज़रा-ज़रा-सी
पर दोनों हैं सहमे-सकुचे
देख के उनका नंगा नर्तन।

गणितों में न मुझे आँकिए
काँटों में न मुझे तौलिए
जानना है गर कुछ भी यारो
मुझको सुनिए मुझसे बोलिए
इसी तरह से पता लगेगा
मेरा वज़न, मेरा आयतन।

भौतिकवाद से लेकर मैंने
स्वप्नलोक तक की है यात्रा
पग-पग में महसूस किए हैं
दर्द के अक्षर दर्द की मात्रा
जब-जब जग की पढ़ी डायरी
बिगड़ गया मेरा व्याकरण।

चौसर फैला है जीवन का

चौसर फैला है जीवन का
शकुनि पाँसें फेंक रहे हैं
कठिन समय है।

रेशम का अभिरूप पा गई
कुर्सी के सान्निद्ध है खादी
चिंगारी अब दूर ही रखना
लोगों का है मन बारूदी

अँधेरी-सी खोहों में अब
इच्छा माथा पीट रही है
और मनोरथ रेंक रहे हैं
कठिन समय है।

युवा भिखारिन सिसक रही है
सहमी-सहमी दुःख की मारी
अभावों के चक्रव्यूह में
अर्द्धनग्न है देह बेचारी

बचा-खुचा सा वस्त्र
दुःशासन खींच रहा है
कौरव आँखें सेंक रहे हैं
कठिन समय है।

संपर्क : ई.डब्ल्यू.एस. 349, कोटरा, भोपाल (म.प्र.)
मो. 09630725033

सत्यप्रकाश सक्सेना 'चिराग़'

बुरा वक्त कभी नहीं आता

मेरी दादी हमें समझाइश देती थी
कि 'बुरे वक्त के लिए बचत करना चाहिये'
मेरी माँ ने भी मुझे
इसी प्रकार समझाया
बात दिमाग में बैठ गई
और मैं जीवन भर
बुरे वक्त के लिये
कुछ न कुछ बचत करता ही रहा
मेरा लड़का अंथू सॉफ्टवेअर इंजीनियर
थोड़ा खर्चीला है
खर्च के मामले में ज़्यादा नहीं सोचता
मैंने उसको बुजुर्गों की बात
समझाई कहा बेटा बुरे वक्त के लिये
कुछ बचत किया करो
लेकिन उसने तो मेरी उम्रभर
की धारणा ही बदल दी
उसका कहना था पापा
हम बुरे वक्त के बारे में
उम्र भर सोचते हैं उसे
याद करते रहते हैं

उसकी प्रतिक्षा करते हैं
हम उसे बुलाते हैं
इसीलिये वो आता है
यदि हम
बुरे वक्त के बारे में सोचना
उसे याद करना
उसकी प्रतिक्षा करना बंद कर देंगे तो
बुरा वक्त कभी नहीं आयेगा।

प्रकाशन

एक रचना की तरह
अधिकतर मैं
अप्रकाशित रहा हूँ
कभी कभी भूले भटके
मैं रचना की तरह
प्रकाशित भी हो जाता हूँ
वरना अधिकतर
एक सम्पादक के द्वारा
लौटाई हुई रचना की तरह
बैरंग ही वापस लौटाया जाता हूँ
मेरे प्रकाशित होने में
या तो भाग्य का हाथ होता है
या दोस्तों की मेहरबानी
सम्पादक की मेहरबानी
बैक डोर एन्ट्री
या पुश बैक भी कभी कभी
प्रकाशित होने के अच्छे
कारण होते हैं किंतु
ये मेरी कमज़ोरी है
कि मैं इनका सदुपयोग
नहीं कर पाता।

संपर्क : एल.आई.जी. 194/ए, सोनागिरि कॉलोनी, रायसेन रोड, भोपाल
फोन 2752942

शत्रुघ्न प्रसाद

उपन्यासों की नयी दिशा-दृष्टि

महात्मा गांधी शरीर धारण कर अपनी पुत्रीवत् मीरा से मिलने दिल्ली आते हैं। दिल्ली बदल गयी है। दिल्ली लंदन सी बन गयी है। उपेक्षित होते हैं। सिंगुर-नंदी ग्राम के किसानों का धरना चल रहा है। वे शामिल होते हैं। एक शरणार्थी लड़की का अपहरण हो जाता है। वे अनशन पर बैठ जाते हैं। तब उन्हें केन्द्र की राजसत्ता द्वारा अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न होता है। सेकुलर-अनसेकुलर पार्टियों का द्वंद्व सामने है। गांधीजी भी वामपंथ से साम्प्रदायिक घोषित होते हैं।

सम्प्रति भारतीय कथा साहित्य में नयी दिशा दृष्टि की झलक मिल रही है। पूर्वाग्रह मुक्त यथार्थ और प्रगतिशील भारतीय जीवन मूल्यों की प्रभावी अभिव्यक्ति से नयी दिशा दृष्टि का स्पष्ट रूप सामने आ रहा है। वाम दृष्टि से यह भिन्न है। वैसे तो रांगेय राघव के ऐतिहासिक लघु उपन्यास और विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यासों से ही परिवर्तन का संकेत मिल गया था। नरेन्द्र कोहली द्वारा रचित रामकथा उपन्यास श्रृंखला से इस परिवर्तन को बल मिला। वाम आलोचना से यह परिवर्तन कुंठित नहीं हो सका। यह धारा आगे बढ़ रही है। हिन्दू-मुस्लिम एकता यानी सांस्कृतिक एकता, वाम बौद्धिकता का भारतीय विरोध और भारत विरोधी राजनीति, धर्मान्तरित मुस्लिम द्वारा भारत तथा भारतीयता के प्रति निष्ठा, जेहादी आतंकवाद, रामजन्म भूमि आन्दोलन और वनवासी आदिवासी क्षेत्र के पुरातन असुर समुदाय के जीवन के यथार्थ-ये सारे विषय इन नये उपन्यासों में मुखर हुए हैं। इन पर गंभीरता से विचार होना चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक ऐक्य के लिए महात्मा गांधी से सदियों पहले पन्द्रहवीं सदी के संत कबीरदास और सत्रहवीं सदी के दारा शिकोह ने सांस्कृतिक-सामाजिक-मानवीय स्तर पर साधना की थी। इस साधना को 'सुनो भाई साधों' में शत्रुघ्न प्रसाद और दारा शिकोह में श्री मेवाराम ने उपन्यस्त किया है। यदि 'सुनो भाई साधो' में कबीर ने अद्वैत दर्शन, अपनी मिट्टी की सोंधी गंध आजीविका के लिए एक

साथ रहने की स्थिति तथा एक ईश के प्रति हृदय के रागात्मक सम्बन्ध के आधार पर दोनों के मन-मस्तिष्क को जोड़ने का प्रयत्न किया तो श्री मेवाराम के कथानायक दारा ने मुगलकालीन अभिलेखों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों के प्रमाणों के अनुसार अपने सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक ऐक्य के प्रयोग किये। दोनों को सफलता मिल रही थी। अनुकूल वातावरण बन रहा था। परंतु कबीर के समय में सिकंदर शाह लोदी ने मुल्लाओं की मदद से राजसत्ता के द्वारा कबीर को दबाने का प्रयत्न किया। गंगा में फेंक देने का आदेश दिया। किंतु कबीर अपनी साधना और जनसहयोग से बच गये। तथापि उपर्युक्त दोनों तत्वों के कारण कबीर की साधना आगे नहीं बढ़ सकी। इसी प्रकार दारा के अनुज औरंगजेब, बहन रोशनआरा और मुल्लाओं ने मिलकर मजहबी कट्टरता और सियासत की ताकत पर दारा को पराजित कर कत्ल भी कर दिया। दारा ने जो अद्वैत और सूफी दर्शन को जोड़ने की कोशिश की थी, वह पूरी तरह विफल हो गयी। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने भी इसी दृष्टि से देश की आजादी के लिए प्रयत्न किया। प्राय: समर्पण के बाद भी भारत का विभाजन हो गया। यह त्रासद विभाजन साधना की पराजय है।... यह यथार्थ उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में सामने आ गया है।

इस यथार्थ से आगे का यथार्थ-जेहादी आतंकवाद का अमानवीय रूप चन्द्रकांता लिखित 'कथा सतीसर' और क्षमा कौल रचित 'दर्दपुर' में प्रस्तुत हुआ है। दोनों लेखिकाएँ कश्मीरी मूल की हैं। इसलिए इनके दोनों उपन्यासों में कश्मीर में फैले अलगाववाद-आतंकवाद-अल्पसंख्यक का पलायन पूरी प्रामाणिकता के साथ आया है। वैसे चन्द्रकांता ने कश्मीर की प्राचीन पृष्ठभूमि के साथ सन् 1930 से सन् 1990 तक के जीवन और शेख अब्दुल्ला के आंदोलन, पाक आक्रमण और अलगाववाद-आतंकवाद में भी आशा की आकांक्षा की है। कश्मीर के हिन्दू-मुस्लिम के एकरस-समरस जीवन में कैसे बदलाव आता है-इसे लेखिका ने विस्तार से पं. अयोध्यानाथ के परिवार द्वारा दिखाया है। संघर्ष, पीड़ा और आशा तीनों की अभिव्यक्ति है।

क्षमा कौल ने 'दर्दपुर' में स्वयं के पीड़ित-विस्थापित जीवन के त्रासद अनुभवों के साथ सन् 1947 से लेकर सन् 1990 के भीषण अमानवीय पलायन-विस्थापन और शेष भारत के बहुसंख्यक बंधुओं की उपेक्षा की और यातना को अभिव्यक्त किया है। दिल्ली से लेकर कश्मीर घाटी के विभिन्न क्षेत्रों एवं पाक की सीमा तक के गाँव की स्थिति का मर्मान्तिक वर्णन कश्मीर घाटी को दर्द की बस्ती में बदल डालता है। यही सच है। शिष्ट मंडल की सदस्याओं, श्रीनगर और अन्य स्थानों के निवासियों तथा अपने गाँव के अपने पड़ोसियों के मजहबवादी-अलगाववादी अमानवीय व्यवहार सेकुलर भारत का यथार्थ है। मंदिर तथा घर-द्वार और उनसे जुड़ी स्मृतियाँ बार-बार कचोटती हैं। सन् 1990 के आतंकवाद के आक्रामक एलान, जिससे पलायन का विस्थापन हुआ, कितना भयावह है। कितना रोमांचकारी है!! इसी अथाह दर्द को क्षमा कौल ने अपने उपन्यास में व्यंजित कर दिया है। 'दर्दपुर' मानो कश्मीर के अलगाववाद-आतंकवाद और केन्द्र शासन की कायरता का ज्वलंत अभिलेख बन गया है।

श्री मनोहर श्याम जोशी लिखित 'क्याप' और कन्नड के प्रसिद्ध कथाकार श्री एस.एल.भैरप्पा रचित 'आवरण' ने वाम राजनीति की सीमा को उद्घाटित कर दिया है। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री जोशी ने पहाड़ी अंचल की पृष्ठभूमि में अपने नवयुवक दलित नायक को मार्क्सवाद तथा जनक्रांति की शिक्षा तथा दीक्षा दिलायी है। चाचा ने पद यात्रा कर जनक्रांति का संदेश दिया। भतीजे ने शिक्षा पाते हुए इस क्रांति का प्रयोग किया है। गुरु तो प्रोफेसर साहब ही हैं। डूम जाति का नायक पहाड़ी ब्राह्मण मंत्री के यहाँ, ट्यूशन पढ़ाता है। उनकी कन्या का दलित नायक के प्रति प्रेम उमड़ता है। क्रांति और प्रेम के द्वंद्व में नायक गुप्तचर द्वारा पकड़ा जाता है। वह दोनों में असफल हो जाता है। और मार्क्सवाद

धीरे-धीरे पतन की ओर बढ़ता जाता है। नायक का जीवन भी क्षेत्र तथा जातिवादी राजनीति में सिमट आता है। लेखक ने इस उपन्यास में पार्टी की सारी विसंगतियों को क्रमशः उद्घाटित कर दिया है।

'क्याप' के पृष्ठ 54 पर नायक की मन:स्थिति देखें-'जब मैं गर्मियों की छुट्टियों में फस्कियाधार पहुँचा। तब मैंने अपने बिछाने-ओढ़ने वाली कम्युनिष्ट पार्टी की पत्रिकाएँ उलटी-पलटी। वे सारी की सारी सफाई देने और मांगने वाले और बाल की खाल निकालने वाले ऊबाऊ शास्त्रार्थ से भरी हुई लगी। जैसे यह कि हमने पहले साम्राज्यवादियों की हिटलर से लड़ाई का समर्थन किया और फिर उसी का विरोध किया और फिर समर्थन किया तो तीनों ही स्थितियों में हम ही क्यों सही थे?'

पृष्ठ-61 पर-'इसके बाद उन्होंने (डाक्साहब-प्रोफेसर)स्टालिन की तीन किताबें मुझे निकाल कर दी, जो कम्युनिष्टों की स्नातक परीक्षा के नये कोर्स में शामिल थी। प्राब्लाम ऑफलेनिनिजन, हिस्ट्री ऑफ द कम्युनिष्ट पार्टी ऑफ सोवियत यूनियन और ऑन द क्वैश्चन ऑफ नेश्नेलिटिज।' तीसरे के संदर्भ में डाक्साहब ने बताया-इसे पढ़कर तुम्हें पता चल सकेगा कि पार्टी ने पाकिस्तान की माँग का समर्थन क्यों किया?

इन दो उद्धरणों से ही पार्टी की बेचैनी का पता चल जाता है। फिर इन क्रांति नायकों का सुविधाभोगी बनना तथा इंदिरा गांधी का दरबारी बन जाना-नायक को खल गया था।

इस प्रकार श्री मनोहर श्याम जोशी का उपन्यास 'क्याप' एक ओर आंचलिक उपन्यास बन गया है। तो दूसरी ओर वामपंथ के पतन का व्यंग्यपूर्ण दस्तावेज है। कैसे जोशी जी ने कांग्रेस को भी नहीं छोड़ा है।

कन्नड़ के सम्मानित तथा पुरस्कृत उपन्यासकार श्री एस.एल.भैरप्पा ने सर्वथा नये यथार्थ कथानक को लेकर 'आवरण' नामक उपन्यास की रचना की है जिसके 20-21 संस्करण कन्नड़ में हो चुके हैं। पहला हिन्दी संस्करण 'किताबघर' से आ गया है। इसे श्री भैरप्पा ने ऐतिहासिक उपन्यास कहा है। कारण है कि नायिका ने प्रामाणिकता तथा निर्भीकता से विजयनगर साम्राज्य के पराभव और विध्वंस, टीपू सुल्तान का आवृत कहर मजहबी व्यक्तित्व, काशी विश्वनाथ का विध्वंस और औरंगजेब कालीन राजस्थान के छोटे पहाड़ी राज्य पर आक्रमण पकड़े गये राजकुमार तथा युवराज्ञी को गुलाम बनाना और उनके साथ क्रूर व्यवहार को कम्युनिष्ट-सेकुलर राजसत्ता के समक्ष रख दिया है। आधुनिक युग के कथानक में इतिहास युग की घटनाओं पर पड़े आवरण को लेखक ने हटाने का सफल एवं प्रभावी प्रयत्न किया है।

श्री भैरप्पा ने लक्ष्मी को अमीर नामक मुस्लिम युवक से प्रेम में शादी और मतान्तरण कराया है क्योंकि गाँव के पड़ोस के इतिहास के प्रोफेसर शास्त्री ने वामपंथी दृष्टि से सलाह दे दी थी। लक्ष्मी रजिया बेगम बन जाती है। मांस भी खा लेती है। उस पर नमाज पढ़ने और बुर्का पहनने का भी दबाव पड़ता है। पर वह विजयनगर के विध्वंस के गलत इतिहास और टीपू सुल्तान के कथित सेकुलर व्यक्तित्व की चर्चा को स्वीकार कर नहीं पाती। शौहर से असहमत होकर गाँव पहुँचकर लक्ष्मी के रूप में पिता के ग्रंथों को पढ़कर सच्चाई रख देती है। वामपंथी-सेकुलर समूह उससे नाराज हो जाता है। वह एक प्रसंग में काशी जाकर काशी विश्वनाथ के विध्वंस के पूरे इतिहास को समझती है। चित्तौड़ क्षेत्र के एक पहाड़ी राजा की पराजय और बंधी बने युवराज-युवराज्ञी के साथ अमानवीय व्यवहार को तो उसने एक उपन्यास में परिणित कर दिया है। उसने प्रो. शास्त्री तथा केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित संगोष्ठी में बेखौफ होकर वाम-सेकुलर इतिहासकारों की सारी मान्यताओं को काट डालती है। और फिर अपने रुपये से उपन्यास छपा लेती है। वामपंथी शास्त्री ने उपन्यास को घोर साम्प्रदायिक घोषित कर लक्ष्मी-रजिया बेगम को गिरफ्तार कराने का षड्यंत्र भी कर दिया है। अंत में शौहर अमीर ने आकर उसे बचाने का प्रयत्न किया है।

भारतीय भाषाओं में श्री एस.एल.भैरप्पा का यह

उपन्यास 'आवरण' ने वाम-सेकुलर उरमि संधि पर एक अकेली स्त्री-लक्ष्मी यानी रजिया बेगम यानी लक्ष्मी द्वारा प्रहार कराया है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति पर वाम-सेकुलर शक्तियों द्वारा डाले गये 'आवरण' को यह उपन्यास प्रामाणिकता तथा निर्भीकता के साथ अनावृत करता है। लक्ष्मी-रजिया भारतीय कथा साहित्य में सर्वाधिक सशक्त नारी के रूप में उभरकर आयी है। इस दृष्टि से यह उपन्यास नयी दिशा-दृष्टि का उद्घोषक हो गया है।

मोगा (पंजाब) के श्री अश्विनी गुप्त ने 'युगगर्दी' में पंजाब, दिल्ली, अयोध्या और जम्मू के विस्तृत क्षेत्र के संदर्भ में पंजाब के आतंकवाद, कश्मीर के आतंकवाद, रामजन्म भूमि आन्दोलन तथा पंजाब में गठबंधन की सरकार का यथार्थवादी वर्णन कर युग की उथल-पुथल को लिपिबद्ध कर दिया है। पंजाब के आतंकवाद में नायक अरविन्द के माध्यम से जनसमाज का संयम, कश्मीर के आतंकवाद से विस्थापित कश्मीरी कन्या आरती से विवाह, छात्र जीवन से अरविंद से प्रेम करने वाली प्रीति अग्रवाल और रामजन्म भूमि आन्दोलन का सम्यक विस्तृत वर्णन ये सब युगगर्दी को प्रभावी उपन्यास बनाते हैं। संघ के कार्यकर्त्ता अरविंद का हर स्थिति में संस्खलित नहीं होना और डॉक्टर प्रीति अग्रवाल का मौन प्रेम-ये दोनों मर्म को स्पर्श करते हैं। ओमप्रकाश-ओमी वामपंथी है, पर अरविंद और ओमी दोनों गहरे मित्र हैं। मान्यताएँ उनके जीवन को दूर नहीं कर पाती। इस दृष्टि से यह उपन्यास यथार्थ का साहसपूर्ण लेखन है।

मोगा (पंजाब) के ही श्री ओम वर्मा ने 'जेहलम से अलकनंदा' नामक यात्रापरक उपन्यास में यात्रा के क्रम में कश्मीर के आतंकवाद का अपनी आँखों से देखने वाला ही नहीं, उस समुदाय से जुड़कर यथासंभव अल्पसंख्यकों को बचाने का प्रयत्न एक धर्मान्तरित मुसलमान यूनुस सैलानी द्वारा कराया है। यूनुस धर्मांतरित होकर भी वह अपनी मिट्टी, पुरखों, संस्कृति तथा देश को भूल नहीं पाता। वह श्रीनगर में सैलानी के रूप में आकर शिकारे के मालिक के परिवार से जुड़कर वह सब देखता है। सुरक्षा में जुट जाता है। सीमा पार से संचालित आतंकवाद-अलगाववाद का रूप कितना अमानवीय तथा क्रूरतम है-इसे लेखक ने इसमें दिखाया है।

धर्मांतरित मुसलमान अलगाववाद-आतंकवाद-जेहार के वातावरण में भी अपनी धरती और अपने हिन्दू पुरखों से जुड़ा रह जाता है-यह एक सत्य इन उपन्यासों में आने लगा है। यही उपन्यास की नयी दिशा-दृष्टि है।

झारखंड के मनोज ज्वाला का प्रथम उपन्यास 'महात्मा की बेटी और सियासत' बीसवीं सदी के अंतिम दशक तथा इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के कथानक पर आधारित हैं। महात्मा गांधी शरीर धारण कर अपनी पुत्रीवत् मीरा से मिलने दिल्ली आते हैं। दिल्ली बदल गयी है। दिल्ली लंदन सी बन गयी है। उपेक्षित होते हैं। सिंगुर-नंदी ग्राम के किसानों का धरना चल रहा है। वे शामिल होते हैं। एक शरणार्थी लड़की का अपहरण हो जाता है। वे अनशन पर बैठ जाते हैं। तब उन्हें केन्द्र की राजसत्ता द्वारा अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न होता है। सेकुलर-अनसेकुलर पार्टियों का द्वंद्व सामने है। गांधीजी भी वामपंथ से साम्प्रदायिक घोषित होते हैं। वे कश्मीर की एक गोष्ठी में पहुँच जाते हैं। जम्मू का मंदिर आतंकवादी विस्फोट से बच जाता है। एक धर्मांतरित मुसलमान ने एक हिन्दू परिवार के आतंकवादी विस्फोट में बची कन्या को मीरा बानो के रूप में सम्भाल लिया है। इसी मीरा बानो को गांधी जी ने अपनी मीरा बिटिया मान लिया। उस धर्मांतरित मुसलमान ने जम्मू के मंदिर के दान के कागज को सौंप दिया क्योंकि उसी के हिन्दू पूर्वजों ने मंदिर को भूमि दान में दी थी।

इस उपन्यास में भी पीर मुहम्मद धर्मांतरित मुस्लिम हैं जो अपने पूर्वजों और हिन्दू परम्परा को याद रखता है और आतंकवाद के विरुद्ध खड़ा है। महात्मा गांधी इन्हीं के साथ हो जाते हैं। राजसत्ता की टेढ़ी चाल से दूर हो जाते हैं। यहाँ भी पीर मुहम्मद खां के चरित्र में नये कबीर और दारा की झलक मिल सकती है।

राजेन्द्र कुमार लिखित 'ग्लोबल गाँव के देवता' में इन सब रचनाओं से भिन्न झारखंड के बिसुनपुर प्रखण्ड के पाट मैदान (पहाड़ी पर के मैदान) में बसे पुरातन असुर समुदाय की दयनीय, दरिद्र तथा सबसे उपेक्षित स्थिति का मार्मिक वर्णन है। इस इक्कीसवीं सदी में भी समाज के प्रमुख-ऊपर के लोग इस छोटे से असुर समाज के साथ कैसा व्यवहार करते हैं। स्कूल में उनके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार होता है। उपन्यासकार ने पुरातन-देवासुर संग्राम तक इस कथानक को सूत्रित कर दिया है। देव और असुर तो दोनों सौतेले भाई थे। दोनों में सामाजिक संबंध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। साथ ही सारे पुराण दोनों के निरंतर युद्ध के रोमांचक वर्णन भी करते हैं। अन्ततः असुर बुराई का प्रतीक बन जाता है। लेखक राजेन्द्र ने इसी मानसिकता पर प्रहार करने का प्रयत्न किया है।

आदिम समाज और विजयी वैदिक समुदाय का यह संघर्ष आज भी सामने आ जाता है। इस द्वंद्व में वामपंथी दृष्टि की झलक मिल सकती है। पर इस उपन्यास ने एक मौलिक प्रश्न खड़ा कर दिया है। आज इस द्वंद्व का नहीं, समरस समाज की आवश्यकता है, जो लक्ष्मी के समाज निर्भीकता के साथ वाम-सेकुलर उरमि संधि से संघर्ष कर सके।

इस दृष्टि से ये कुछ उपन्यास नयी दिशा-दृष्टि के सूचक हैं। इनका स्वागत है।

संपर्क : राजेन्द्र नगर, पथ-13ए, पटना (बिहार)-16

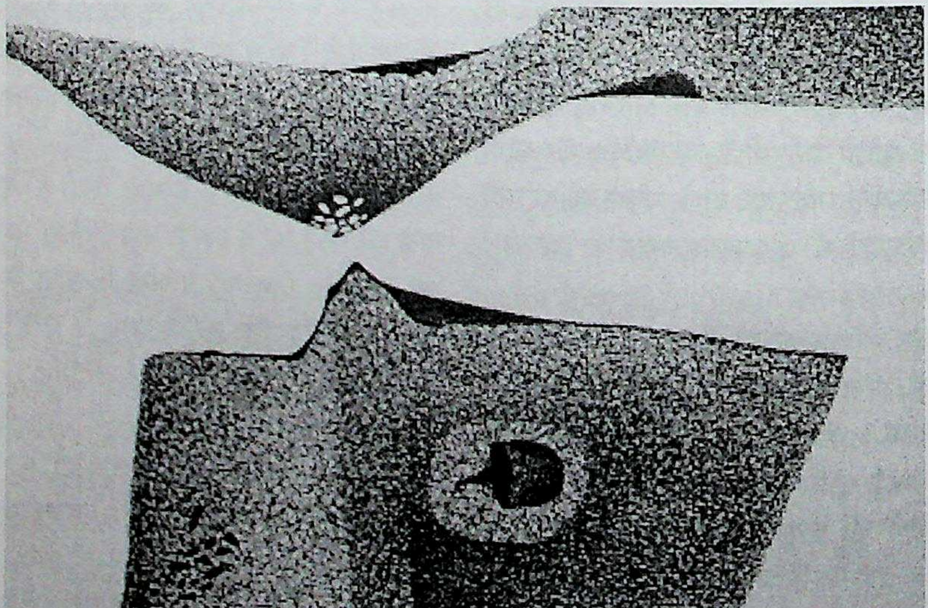

बी.एल. आच्छा

मनुष्यता के उत्कर्ष और नियति का आख्यान : अनामदास का पोथा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी महागप्पी हैं। अपने कलात्मक छद्म से वे अपने उपन्यासकार को नाम से परे कर देते हैं, लेकिन उपन्यास की ऐतिहासिकता को गहरा रंग दे जाते हैं। इतिहास के किसी कालखण्ड में परकाया प्रवेश द्विवेदी जी के लिए वैसा ही है, जैसे नर्तक का भावानुप्रवेश। भाव और अंग-संचालन में एकलय-तान हुई नृत्यकला दर्शक के हृदय पर थिरकती है, उसी तरह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और कल्पना शक्ति से आचार्य द्विवेदी ऐसी सजीली ऐतिहासिकता का रंग पैदा करते हैं, जो इतिहास के भीतर मानव के उत्कर्ष और उसकी नियति की तलाश करती है। यह तलाश अनवरत है, गतिशील है, चरैवेति है। इसलिए आचार्य द्विवेदी इतिहास की पृष्ठभूमि में प्रगतिशीलता के ऐसे रंग बिखरेते हैं, जो उन्हें न परम्परावादी होने देते हैं, न निखालिस मार्क्सवादी। इसीलिए उनकी सृष्टि खेमों और विचारधारों से परे मनुष्य को केन्द्र में रखकर गतिशील मानवता को रचती है। उपन्यास की भूमिका में वे लिखते हैं-'और ज्योतिषी भी उसी पुरानी प्रथा में चल रहा है। दुनिया से कोई भी विश्वास एकदम गायब नहीं हुआ है। रूप बदलकर वह जी रहा है। नहीं जीता होता तो अपने को 'प्रोग्रेसिव' या प्रगतिशील कहने और मानने वाले लोग विरोधी के पुतले क्यों जलाते, मुर्दाबाद के नारे क्यों लगाते? आदिम मनोवृत्ति जी रही है। जिएगी।' इस पुरातन और आधुनिक के बीच

उपनिषदीय चिंतन का केन्द्रीय ध्रुव है-परमत्व की जिज्ञासा। ब्रह्म की खोज। आत्म तत्व की खोज। तप, स्वाध्याय, चिंतन, मनन से उस सत्य की खोज ऋषिगण करते हैं, तार्किक आधार पर अनुभूत सत्य को प्रस्तुत करते हैं। दाल्भ्य की धारणा थी कि साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है। प्राण का आश्रय जल है, जल का आश्रय स्वर्गलोक है, लेकिन शिलक का तर्क था कि स्वर्ग लोक ही अंतिम सत्य कैसे हो सकता है ? तब शिलक के प्रश्न के उत्तर में दाल्भ्य ने कहा कि-स्वर्ग लोक का आश्रमा मनुष्य लोक है-यह मिट्टी की धरित्री।

द्विवेदी जी काल की छन्दोधारा का अन्वेषण करते हुए ऐसा सृजनात्मक आख्यान प्रस्तुत करते हैं, जो उस कालखण्ड की अन्वेषणा को गतिशील बनाते हुए आधुनिक मानव की नियति बन जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक छोटा सा आख्यान है- रिक्व ऋषि के पुत्र रैक्व का। एक टूटी सी गाड़ी की छाया में बैठकर वे तपस्या करते थे। समाधि के दौरान वे अपनी पीठ खुजला लेते थे। एक दिन हंसों के ध्वन्यालाप (रयिक्व) का अर्थ लगाकर राजा जनश्रुति अपनी तत्व जिज्ञासा के लिए ऋषिकुमार रैक्व के सम्मुख जाते हैं। सैकड़ों गाएँ, सोने के हार और घोड़े जुते हुए रथ को भेंट स्वरूप लेकर जाने पर भी ऋषि कुमार ने कहा-'हे शूद्र, गौओं सहित यह हार युक्त रथ तेरे ही पास रहे।' दूसरी बार राजा कुछ बढ़ी-चढ़ी सम्पदा के साथ अपनी कन्या जबाला को लेकर पहुँचा, तो ऋषिकुमार ने कहा-'अरे शूद्र ते ये गौएं आदि लाया है, सो तो ठीक है, तू इस विद्याग्रहण के द्वार से ही मुझे भाषण कराता है।' तब रैक्व ने राजा को वायु का उपदेश देते हुए कहा कि 'ब्रह्माण्ड में जो वायु है, वही पिण्ड में प्राण हैं। वायु में ही सारा जगत लीन हो जाता है। इस छोटे से आख्यान से यह जिज्ञासा सहज जाग्रत होती है कि सुमुखी कन्या को पाकर ही रैक्व ने राजा को क्यों उपदेश दिया। समाधिस्थ अवस्था में भी रैक्व का हाथ पीठ की सनसनाहट को दूर करने के लिए क्यों चला जाता था? मामूली सी छाया देने वाली टूटी सी गाड़ी के प्रति रैक्व का ऐसा ममत्व भरा आकर्षण क्यों था। इन्हीं बिन्दुओं के सहारे रैक्व-जाबाला की प्रणय-कथा का तंतुजाल बुनना और उपनिषदीय चिंतन की पृष्ठभूमि में मनुष्य को केन्द्र में रखने वाले प्रत्ययों का अन्वेषण-उपस्थान करना परकायप्रवेशी आचार्य द्विवेदी की कल्पना सृष्टि का उपक्रम है।'

अनामदास का पोथा यों तो सरल सी प्रेम कथा लगती है, पर उसके निहितार्थ पारम्परिक चिंतन को खोलते हुए आधुनिकता के विवेकशील पार्श्व को उजागर करते हैं। दरअसल हमारे पारम्परिक दर्शन का एक पक्ष संसार को मिथ्या, प्रेम में शरीरी-काम को हेय, गार्हस्थ्य को मुक्ति के लिए बाधा मानता आया है। इस उपन्यास में इन्द्र और विरोचन की कथा के माध्यम से सत्य का संधान किया गया है। विरोचन ने शरीर को ही आत्मा मान लिया था, पर इन्द्र ने ऋषि से इस सत्य को पाया कि आत्मा स्वभाव से अशरीरी है, परंतु जब तक इस शरीर के साथ अपने को एक समझ कर रहता है, तब तक सुख-दुख लगा ही रहता है। पर द्विवेदी जी इस सत्य के अधूरे पक्ष को भी प्रबलता से रखते हैं-'विरोचन ने शरीर को ही आत्मा मान लिया था, यह बात बिल्कुल असत्य नहीं है, अधूरा सत्य है। क्या दूसरा अर्थ यह भी है कि शरीर सत्य है।' और द्विवेदी जी इस शरीर युक्त मनुष्य को केन्द्र में रखकर, उसके भौतिक अस्तित्व के तमाम प्रत्ययों को समझकर उसे उस आत्मा तक ले जाते हैं, जो प्रकृति के सत्य के स्वीकार के साथ संस्कृति की ओर ले जाती है। और यह शरीर ही है, जो काम-संवेगों की जैविक अवधारणा के साथ रैक्व की पीठ में सनसनाहट पैदा करता है, समाधि के बीच हाथ से पीठ को खुजलाने के लिए मजबूर करता है। लेखक की यही प्रगतिशील दृष्टि है और कथाक्रम के विकास में कामवादी मूल्यों की आध्यात्मिक-सृष्टि है। इसीलिए प्रजा-तंतु के विकास की अनिवार्यता के साथ वे उन रिश्तों-नातों के भीतर बसे ममत्व को उतनी ही सच्चाई के साथ प्रतिष्ठित करते हैं- 'पारिवारिक संबंध चाहे वास्तविक हों या कल्पित, मनुष्य के अवचेतन को पवित्र और निर्मल बनाते हैं। जिस दिन लोग इस बात को भूल जाएँगे, उस दिन समाज उच्छिन्न हो जाएगा।' यह केवल काम की जैविक-शारीरिक अनिवार्यता से उपजे ममत्व भरे संबंधों की प्रतिष्ठा है, जो मानव-मुक्ति में बाधक नहीं है, बल्कि लोक की मनोहारी-सृष्टि के भीतर छिपे प्रेम-रस की शरीरात्मवादी प्रतिष्ठा करते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी कविता में लिखा है-'वैराग्य का रास्ता अपनाकर मैं मुक्ति की कामना नहीं करता। मैं असंख्य, भव बंधनों में ही आनन्दमय मुक्ति का स्वाद चखना चाहता हूँ।' उपन्यास के कथा-संगठन में

रैक्व जैसे भोले पात्र को नायकत्व प्राप्त हो गया है, जिसके माध्यम से इन धारणा को शरीरात्मक स्तर पर व्यंजित किया जा सकता था और इन संवेगों को भोलेपन और जिज्ञासु स्वभाव के भीतर इस तरह विकसित किया जा सकता था, जिससे चुहल भरी प्रणय-व्यथा अधिक आह्लादकारी, शरीर-मनोवैज्ञानिक पक्षों को उभारने वाली बन सकती थी।

रैक्व के दुर्निवार आकर्षण और सनसनाहट का कारण काम की जैविकता है। द्विवेदी जी इसे अभिलाष-भाव कहते हैं। इस जैविकता में जाबाला का सौन्दर्य, उसकी मनोहारी वाणी और तत्वचिंतन की दिशा इस आकर्षण को त्वरा देते हैं। जाबाला भी इस भोलेनाथ के प्रेम में मनोरोगी हो जाती है। लोकभाषा या कोहलियों के सदंर्भ में कहें तो उसके शरीर में 'गंधर्व का आवेश' है। भीतर ही भीतर वह उसका रक्त चूस रहा है। यही नहीं, गंधर्व के इस आवेश की विकट अनुभूति रैक्व को भी है-'गाड़ी बुरी तरह खींच रही है। दुर्वार आकर्षण है उसका। ...गाड़ी तो जड़ है, उसके प्राण भी नहीं है, मन भी नहीं है, वह कैसे खींच सकती है। मैं ही विक्षिप्त हो गया हूँ। अवश्य कोई लोकोत्तर शक्ति काम कर रही है। गंधर्व क्या उसी का नाम है?' (अनामदास का पोथा, पृ. 107) प्रेम का यह आविष्ट रूप मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है-'कोहलियों ने मन के देवता को पहचाना है, वे नाना कौशल से मनोजन्मा के विकारों का शमन करते हैं। पहले तुम्हारे ऋषि लोग इन बातों को महत्व नहीं देते थे। अब तो वे भी नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ और नाट्य को पाँचवा वेद मानने लगे हैं।'(अनामदास का पोथा, पृ. 71) लोक प्रज्ञा में काम की ऐसी प्रतिष्ठा और शास्त्रों में इन विकारों के नियमन की कठोरता के परिप्रेक्ष्य में काम और प्रेम की आत्मिकता को समझना जरूरी है। आधुनिक मनोविश्लेषण के संदर्भ में काम की अनिवार्यता और उसके दमन से उपजी ग्रंथियों को विश्लेषण किया जाता है। आचार्य द्विवेदी मनोजन्मा कामदेवता और उनके कुसुम-बाणों को कहीं अनदेखा नहीं करते। यह तो मनोदेवता हैं, उसी की आराधना के लिए नृत्य-नाट्य की व्यवस्था की जाती है, परंतु सांकेतिक रूप से इन काम-भाव को जड़ मनोविकारों को जगाने वाली वृत्तियों के दोषों की ओर भी संकेत करते हैं-'नृत्य का और नाट्य का उद्देश्य' चैतन्य को जाग्रत करना है। आजकल बहुत से वृत्तिजीवी उनसे जड़ मनोविकारों को जगाने का काम लेने लग गये हैं। कोहलियों में यह दोष नहीं है। (अनामदास का पोथा, पृ. 71)

मनोविश्लेषण के आधुनिक संदर्भ पुरानी भाषा में रचे बसे हैं, मुद्दा उनको जागृत करने या मनोविकारों के शमन की व्यवस्थाओं का है। ऋषि औषस्तिपाद कहते हैं-'विवाह के माध्यम से ही पुरुष और स्त्री पूर्णता प्राप्त करते हैं, संसार के सबसे बड़े लक्ष्य प्रेम को प्राप्त करते हैं।'(अनामदास का पोथा, पृ. 60)

प्रेम की कामपरकता की व्यंजना पूरे उपन्यास में है। देवलोक के प्राणी 'जाबाला' की स्मृति के कारण रैक्व का मन प्राणायाम और समाधि में भी नहीं लगता। पर वह अपनी पीठ की सनसनाहट को पाप का ही कारण मान बैठता है। माँ ऋतंभरा उसे समझाती हैं कि यह पाप नहीं, शुभा के प्रति दुनिर्वार आकर्षण है। ऋषि औषस्तिपाद के तत्त्वचिंतन को ऋतंभरा सरलीकृत रूप से समझाती हैं। रैक्व ने प्राण या वायु संवर्ग को ही आत्मा माना था। यह भी परम वैश्वानर का ही एक रूप है। यह प्रिय रूप 'स्वभाव' के कारण होता है। वैश्वानर किसी न किसी रूप में हर प्राणी में व्यक्त होता है, रैक्व में प्राण रूप में व्यक्त हुआ है। यह प्राण ही उसे प्रिय है, अपने सत्य का संधान वह प्रिय रूप ही करता है, अत: उसका दोष या पाप नहीं है। उर्दक शौल्वायन ने प्राण को ही ब्रह्म कहा था। प्राण से ही प्रियता प्रकट होती है, इसीलिए 'प्राण-प्रिये' कहा जाता है।

लेकिन 'प्राण' की इस अवधारणा का केन्द्र केवल कामजनित प्रेम या वैवाहिक प्रेम तक सिमटा हुआ नहीं है। यह प्राण 'जीवन जीने की इच्छा' है, जिजीविषा है-जीने की दुर्दम इच्छा। इसीलिए अकाल में जब कातर

दृश्यों और संकट में पड़े लोगों से रैक्व का साक्षात्कार होता है, तो रैक्व कहता है-'माँ आज समाधि नहीं लग पा रही है। आँखों के सामने केवल भूखे नंगे बच्चे और कातर दृष्टि वाली माताएँ दिख रही हैं।'(अनामदास का पोथा, पृ. 82) रैक्व कहता है-'ये लोग मरना नहीं चाहते, जीना चाहते हैं।' तभी ऋतंभरा कहती है-'यही क्या वह चीज है जो विनाशकाल पदार्थों के बीच अनिश्वर है? दुर्वार जिजीविषा। जीते रहने की इच्छा।' और 'वायु' को ही परम सत्य मानने वाला यह प्रेम जाबाला की धुरी पर अटक कर भी ऐसे प्राणियों की सेवा में लग जाता है। 'हवा' के प्रयोग से ही उपचार ही नहीं करता, अन्न-जल आदि से जीवन की रक्षा भी करता है। और ऋतंभरा अनुभूत वाणी में कहती है-'देख बेटा, जहाँ दुख है, अभाव है वहाँ प्रभु प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। वह अंधकार में प्रकाश बिखेरते हैं। आंधी तूफान के भीतर शांत-प्रसन्न भाव से विराजमान रहते हैं, परम प्रेमिक हैं बेटा।' काम की यह परिणति शरीर को विवाह-उद्‌वाह में आत्मसात करती हुई लोक-पीड़ा और प्रेम में पर्यवसित होती है। इसीलिए भगवती ऋतंभरा और औषस्तिपाद 'वायु संवर्ग' का निषेध नहीं करते, बल्कि रैक्व के स्वभाव की प्रियता से जोड़कर अंतर के इस देवता की उपेक्षा न करने का मंत्र देते हैं। यही नहीं औषस्तिपाद रैक्व से पूछते हैं-'तू प्राण तत्व को कोई स्थिर और अंतिम लक्ष्य मानकर रुककर नहीं जाता।' इसीलिए वे प्राण को मंत्रविद् की तरह सिद्ध न कर आत्मविद् की तरह होने का उपदेश देते हैं, क्योंकि आत्मविद् किसी बात पर अटकता नहीं, निरंतर आगे बढ़ता रहता है।

उपनिषदीय चिंतन का केन्द्रीय ध्रुव है-परमत्व की जिज्ञासा। ब्रह्म की खोज। आत्म तत्व की खोज। तप, स्वाध्याय, चिंतन, मनन से उस सत्य की खोज ऋषिगण करते हैं, तार्किक आधार पर अनुभूत सत्य को प्रस्तुत करते हैं। दाल्भ्य की धारणा थी कि साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है। प्राण का आश्रय जल है, जल का आश्रय स्वर्गलोक है, लेकिन शिलक का तर्क था कि स्वर्ग लोक ही अंतिम सत्य कैसे हो सकता है? तब शिलक के प्रश्न के उत्तर में दाल्भ्य ने कहा कि-स्वर्ग लोक का आश्रमा मनुष्य लोक है-यह मिट्‌टी की धरित्री। (अनामदास का पोथा, पृ. 28)

उपनिषदीय वृत्तों में कभी द्युलोक, कभी आदित्य, कभी वायु, कभी आकाश, कभी जल, कभी पृथ्वी में ब्रह्म की तलाश होती है। तत्व जिज्ञासाओं में रमे उपनिषदीय पौराणिक समाज में 'मनुष्य' केन्द्र में नहीं है। तत्व ज्ञान के पीछे राजा पागल है, रैक्व वायु संवर्ग में खोये हैं, उपनिषदीय कक्षाओं में हर कहीं भार्गवी विद्या और आत्म तत्व के लिए भटकाव है, पर इन सबके बीच मनुष्य-लोक खो गया है, उसकी पीड़ाओं की चिंता और मानव-मूल्य खो गये हैं। प्रतीकात्मक रूप से गाड़ीवान के मर जाने की चिंता नहीं है, जितनी तत्वज्ञानी जानश्रुति को अपनी बेटी के मिलने की उत्सवी प्रसन्नता। तत्वज्ञानी राजा 'राजस्व के मूल्यों' से भी भटक गया है और उसे 'साधारण गाड़ीवान' की मृत्यु का अवसाद तो नहीं है, पर गाड़ीवान की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी 'उजुआ' और उसके बेटे की चिंता भी नहीं है। राज्य में अकाल पड़ा है पर उसे साधारण जन की चिंता नहीं है, जबकि रत्नादि मूल्य देकर वह 'आत्मतत्व' को सीखना चाहता है।

ब्रह्म तत्व की इस पृष्ठभूमि में जाबाला के उपचार के लिए राजा जानश्रुति के गुरु औदुम्बरायण धूनी जलाए और राख रमाये सिद्ध महात्मा के पास पहुँचते हैं। लोगों में यज्ञ, ब्राह्मण देवता और तप-मनन के विरोधी छवि वाले महात्मा को जब पता चला कि यही राजकन्या है, तो वे बोले 'राजा के लिए प्रजा की सारी बेटियां उसकी अपनी बेटी हैं। मुझे दुख है कि राजा जानश्रुति और उनके पुरोहित इस ओर से बिल्कुल अनवहित हैं। वे गाड़ीवान के मर जाने पर उसकी पत्नी और अनाथ बच्चे की चिंता न करने को 'आध्यात्मिक अपराध' बताते हुए कहते हैं-'जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियाँ भूख-प्यास से व्याकुल होती हैं, उसका सत्यानाश हो जाता है और राजा

नरक का अधिकारी होता है। राजा जानश्रुति के राज्य में एक नहीं अनेक स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, भूख से प्यार से रोग से व्याकुल हैं।' लेखक के चिंतन का केन्द्र मनुष्य है और पर दुख कातरता मानवता का सबसे बड़ा मूल्य है।

'अनामदास का पोथा' क्रियाविहीन तत्वचिंतन को, परमतत्व की तलाश में उलझे ऋषि-आश्रमों को, मुक्ति और परमसत्य की जिज्ञासा में खोये राजा और उनके परामर्शक गुरुओं को, शरीर और जगत् को तिरस्कृत कर आत्मतत्व की प्रतिष्ठा करने वाले ज्ञानियों को, आत्मनिवृत्ति में मुक्ति का मार्ग ढूंढने वाले तपस्वियों को उपन्यास की पृष्ठभूमि में रखकर मानव के उत्कर्ष और उसकी नियति का संधान करता है-'ऐसा लगेगा कि निखिल विश्वमय व्याप्त श्रुद्र पिण्ड से लेकर मनुष्य-पर्यंत की सारी सृष्टि भटकाव मात्र है। उसका कोई उद्देश्य नहीं है। मेरा मन कहता है कि उद्देश्य है। यह सब कुछ सार्थक और सोद्देश्य है। बुभुक्षित लोगों को अन्न, पिपासित लोगों को जल, निराश लोगों को आशा और मरणोन्मुख लोगों को अमृत का प्रयोजन है। परंतु वह इसलिए है कि ये सारे कार्य निखिलात्मा परम वैश्वानर की तृप्ति के लिए हैं। ऐसे कर्तव्यों का पालन न करना निखिलात्मा को ही धोखा देना है।' (अनामदास का पोथा, पृ. 149) ऐसा लगता है कि औषस्तिपाद के भीतर से जैसे आचार्य द्विवेदी ही आह्वान कर रहे हों। अब चाहें तो इसे भारतीय लोकमंगल से जोड़ दीजिए या प्रगतिशील सर्वहारा से। पर उपनिषदीय चिंता धारा का वह यह आलोक है। सृष्टि की नश्वरता में मनुष्य की सार्थकता और चिंतन के फलितार्थ को भगवती ऋतंभरा समझाती हैं-'मेरे लिए इनकी एक ही उपयोगिता है कि ऐसा करना चाहिए जिससे केवल नाशमान पदार्थ ही जीवन का लक्ष्य नहीं बन पाए। पर मैं नाशमान कहे जाने वाले पदार्थों की उपेक्षा की बात सोच नहीं पाती।' द्विवेदी जी के सम्पूर्ण चिंतन एवं उसके औपन्यासिक नियोजन में परदुखकातरता सबसे बड़ा मानवीय गुण है, जो दृश्यमान संसार से गुहा के तप की ओर नहीं धकेलता, बल्कि गुहा के तप से खींचकर मनुष्यता के लिए समर्पित हो जाने को ही परम तप, वैश्वानर का इंगित और परब्रह्म की आनंदमयी लीला मानता है। वेदांत की जो पुर्नव्याख्या विवेकानंद के माध्यम से हुई, प्रेम की रागात्मकता का जो गीत रवीन्द्रनाथ से फूटा-उसका प्रसार इस चिंतन में गहराई से समाया है, कथावृत्त में बहा है।

दरअसल लेखक के चिंतन और सृजन के मूल में एक बीज-भाव सकारक रहा है, वह उनकी आलोचना, निबंधों और उपन्यासों में लहलहा रहा है। वे लिखते हैं-'मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी कहने को तैयार नहीं हूँ, जिनमें संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो। जो रचना हमारी मानसिक चिंताओं का विश्लेषण करने का दावा करके हमें जहाँ का तहाँ छोड़ देती है, उसमें गति नहीं है, उसे प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता।' (अशोक के फूल, पृ. 43) इसीलिए लेखक रह-रहकर जड़ता की प्रकृति से संस्कृति की ओर ले जाने का उपक्रम करता है। वह प्राचीन मूल्यों-मर्यादाओं को इतिहास की आलोचना-शिला पर लाकर उन्हें प्रक्षालित करता है और अपने समय और उसके मूल्यों की उपयोगिता से उन्हें जोड़ता है। पर उसकी दृष्टि निरंतर गतिशीलता को ही चालक मानती है। इसीलिए उपन्यास में जप-तप, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, सत्संग-समाधि, प्रेम-वैराग्य, विवाह-उद्वाह, व्यक्ति-समाज, मोह और मुक्ति, व्यक्त और अव्यक्त, संसार और चरक लक्ष्य जैसी अनेक अवधारणाएँ प्रासंगिक तौर पर विचारों को नयी अभिव्यक्ति देती है।

'रैक्व' छान्दोग्य के ऋषिकुमार हैं, अनाथ बचपन और सांसारिक व्यवहार से अपरिचित होने के कारण भोलापन या अबोधपन उनकी विशेषता है। यह भोलापन और निश्छलता सभी को अभिभूत करती हैं-जाबाला-शुभा को, भगवती ऋतंभरा को, आश्वलायन को ऋजुका को। बचपन में माता-पिता की छाया से वंचित होने के कारण वे अतिरिक्त सहानुभूति भी प्राप्त कर लेते हैं।

उपन्यासकार ने रैक्व के भोलेपन में आश्रम के बटुक की तरह शास्त्र और लोकव्यवहार को इस तरह उगाया है कि 'वायु' की केन्द्रीयता पर दृढ़ रहते हुए वह महर्षि औषस्तिपाद, भगवती ऋतंभरा, जटिल मुनि, आश्वलायन आदि से साक्षात्कार करता हुआ नयी तात्त्विक भूमियों से पुष्ट होता रहता है और मामा जैसे पात्रों से उनकी व्यवहारिक क्रियाशीलता पाता है। रैक्व के चरित्र के विकास की दो दिशाएँ हैं-एक तो आश्रम परम्परा, सत्संग, तप, प्राणायाम, समाधि, गुरु के साथ तत्व चिंतन, स्वयं के परीक्षण से प्राप्त ज्ञान, गुरु के सम्मुख संशय और जिज्ञासाओं का समाधान, विभिन्न प्रकार के शास्त्रों-विधाओं का अध्ययन आदि। दूसरी दिशा लोक व्यवहार की है, जिसकी शुरुआत जाबाला से पहली भेंट में ही हो जाती है। बाद में विधवा ऋजुका और उसके पितृहीन बच्चों की पीड़ा, अकाल के भीषण चित्र, लोक-सेवा, गंधर्व के आवेश, प्रिय के ध्यान में शुभा का आना, विवाह, उद्वाह जैसी लौकिक प्रसंगों में उसका व्यवहार ज्ञान विस्तृत फलक पाता है। यह अलग बात है कि 'समाधि' के तप और लोक-पीड़ा के तप में उपन्यास की कथा और वैचारिकता की तरह रैक्व का चरित्र भी ज्ञानयुक्त क्रियाशीलता से निखर जाता है। इसीलिए रैक्व का अनाथपन और अबोध रूप वैचारिक एवं चारित्रिक दृष्टि से लेखक के लिए अनुकूल बन पड़ा है, क्योंकि उसके माध्यम से उपनिषदीय कथा प्रसंगों को और उसकी युगानुकूल नयी उद्भावनाओं को नियोजित करना सम्भव था।

जाबाला राजकुमारी है, पर पिता ज्ञानश्रुति की तरह वह भी तत्वज्ञान की राह पर चलने वाली और लोक-सामान्य मर्यादाओं के ज्ञान से परिपूर्ण। अन्य उपन्यासों के प्रमुख नारी पात्रों की तरह जाबाला के लिए भी रूप की सृष्टि लेखक ने बिम्ब-माला और उपमानों से की है। यों भी द्विवेदी जी सौन्दर्य का सारा कच्चा माल रूपाकृति में नियोजित कर देते हैं, परंतु उसके भीतर आंतरिक गुणों को इस तरह समाहित कर देते हैं कि नारी पात्र व्यक्तित्व-सम्पन्न होकर आह्लादित करते हैं। द्विवेदीजी के पास भारतीय साहित्य की सौन्दर्य-दृष्टि है, कवियों की उपमाओं का खजाना है, भारतीय नारी की सांस्कृतिक उदारता के क्षितिज हैं और जाबाला के विशेष संदर्भ में उपनिषद युग की भी तात्त्विक पृष्ठभूमि है, लेकिन आधुनिकता का सात्त्विक क्षितिज भी। इन्हीं से उपनिषद युग की जाबाला का सृजन हुआ है। आचार्य औषस्तिपाद सारे चिंतन के केन्द्र में हैं। औषस्ति में पैठा हुआ द्विवेदीजी का व्याख्याकार उपनिषद युग के सारे धर्म-कर्म-चिंतन, ध्यान-धारणा, तप-समाधि, पाप-पुण्य को आधुनिकता से संगति देता हुआ व्यक्त होता रहता है, पर पौराणिक-सूक्तों के आवरण में औषस्तिपाद का ऋषित्व अपनी विश्वसनीय प्रतिमा संजोयें रखता है। भगवती ऋतंभरा ज्ञान और क्रिया का समन्वित नारी चरित्र है। अपार करुणा, वात्सल्य, प्रिय-भाव, सेवा और तत्व की सरलतम व्याख्याएँ रैक्व जैसे बटुक में व्यावहारिक समझ और तात्विक बोध की दिशाएँ प्रशस्त करती हैं। ऋतंभरा परदुखकातर है, वह ऋजुका की पीड़ा को समझती ही नहीं, अपनाती है और अकाल पीड़ित सभी जनों की सेवा में ही 'तप' को साकार करती हैं।

मामा और ऋजुका साधारण जन हैं, जिनके पास तत्व-ज्ञान नहीं है। तत्वज्ञानियों के प्रति वे श्रद्धा विनत हैं, पर लोक-कर्त्तव्य से भरे पूरे हैं। मामा साक्षात् क्रिया हैं, वे रिश्तों की मानवीय भूमि पर अकाल पीड़ित बच्चों और लोगों की सेवा करते हैं। मामा की चरित्र करुणा, सेवा और विनम्रता से गढ़ी गई ग्राम्य-प्रतिमा का सा है, जिसमें तत्वज्ञानियों के प्रति श्रद्धा-भाव है और अपने अबोधपन में तत्वज्ञानियों के चिंतन का साकार रूप। लेकिन ऋजुका (उजुआ) वंचिता और पतिहीना होकर भी स्वाभिमान से भरी-पूरी है। द्विवेदीजी के नारी-पात्र अस्मिता से भरे होते हैं, दयनीयता से कातर नहीं। रैक्व से वह कहती हैं-'मैं किसान की स्त्री हूं, भीख नहीं मांग सकती। कुछ कामकाज करके मजदूरी कर सकती हूँ। तुम्हारी माताजी कोई काम देंगी तो भगवान उनका

भला करे।' (अनामदास का पोथा, पृ. 61) इस एक संवाद में ऋजुका का पत्नीत्व, स्वाभिमान, पति-प्रेम, कर्म-सजगता जैसे गुण साधारण वर्ग की सामान्य नारी को प्रतिष्ठा देते हैं।

आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों की गद्य-संरचना इतिहास के रंगों और उसके स्थापत्य को रचने में इतनी कारगर है कि भाषा स्वयं इतिहास रच देती है। बाणभट्ट की आत्म कथा में समास शैली का वैभव तद्युगीन कला का परिचय कराता है। उससे हटकर अनामदास का पोथा में भाषा सरलीकृत है। शब्द-व्युत्पत्ति, तदयुगीन शब्दावली और तत्वचिंतन परक संवादों की भाषा के माध्यम से उपनिषद युग को रचने में अनामदास का पोथा की भाषा सक्षम है। उपनिषद की शास्त्रीय शैली में तत्वचिंतन की अनुविद्धता, आश्रमों का सारस्वत चित्रण करती है। जिस पर भी उपन्यासकार के व्यक्तित्व का संस्कार उनकी उपन्यास-भाषा की विशिष्टता को रेखांकित करता है। शास्त्रीयता और विनोदप्रियता, इतिहास और उसका गल्पीकरण, पाण्डित्य और वैयक्तिक स्वच्छंदता, विचार भाषा और चित्रभाषा, तर्क और संवेदनीयता, पाण्डित्य और लोकानुराग उसकी भाषा के रसायन में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि पूरा उपन्यास लालित्य की सृष्टि करता है। व्यक्तित्व की बनावट और औपन्यासिक बुनावट का ऐसा तालमेल विरल है।

द्विवेदी जी की उपन्यास भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है अनुभवगामिता। प्रसंग चाहे प्रेम का हो, तप का हो, तर्क का हो, व्युत्पत्ति का हो, विनोद का हो, रूपाकृति का हो, करुणा का हो, तत्वचिंतन का हो, सिद्धियों का हो या व्यवस्थाओं का, वे पूरी तरह उसमें डूब जाते हैं और फिर ऐसे तिरने लगते हैं कि ध्वनियाँ, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, अलंकार, बिम्ब प्रतीक और यहाँ तक कि कथन की विधा भी उसका पूरे बहाव के साथ अनुसरण करने लगती है।

द्विवेदी जी के पिछले तीन उपन्यासों में काव्यात्मक पेटर्न की प्रधानता है। भाषा का पदबंध भी काव्यात्मक एवं लय प्रवाही है। अनेक श्लोकों के अनुवाद, उनकी भावमयता एवं वर्णन में सादृश्य-विधान एवं पात्रों के रेखांकन में चित्रमय भाव-सृष्टि भाषा के गद्य रूप को अतिक्रान्त कर देती है। 'अनामदास का पोथा' में उनका 'रेह्टारिक' उतना प्रबल नहीं है, क्योंकि उनका स्थान उपनिषद युग के अनुभूत सत्यों और सूक्तों की निर्वचन शैली ने ले लिया है। इस वैचारिक भूमि के साथ कथातंतु का इतना अभाव है कि लेखक प्राण से 'स्वभाव' की प्रियता और तप से लोक-तप तथा सनसनाहट से उद्‌वाह या उपोद्‌ग्रहण की ओर कथा-यात्रा को संजोयित कर देता है। यह अलग बात है कि उपनिषद युग के सूक्तों की वैचारिक पंखुरियां खिलती हैं, लोक और लौकिक अनुभूतियाँ उसमें रच बस जाते हैं। प्रेम की विकलता और अवसाद, संकोच और रोमांच, समर्पण और विवशता, रुदन और पुलक जैसे भाव भी कथावृत्त को सहज बनाते हैं। पर कथावस्तु के प्रवाह में वैचारिकता के द्वीप अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते रहते हैं। ज्ञान-इच्छा और क्रिया के त्रिकोण का आच्छादन इस उपन्यास में इतना सघन नहीं है, यद्यपि औषस्तिपाद को ज्ञान का प्रतीक, भगवती ऋतंभरा को इच्छा का प्रतीक और रैक्व-जाबाला को क्रिया का प्रतीक कहा जा सकता है। उपन्यास का शिल्प भले ही उतना सशक्त न हो, पर उपनिषद युग को उसके समग्र-अंकन और आधुनिकता के संकेतों से प्रासंगिक बनाने में सहकारी अवश्य है। इस मायने में यह उपन्यास की उपलब्धि ही कहा जाएगा, क्योंकि यह उपन्यास उपनिषद युग को आधुनिक युग में अवतरित कर सांस्कृतिक सन्निधि को संजोये हुए हैं।

संपर्क : 73, रवीन्द्र नगर, उज्जैन (म.प्र.)
मो. 094250 83335

राजकमल चौधरी

पात

अनुवाद : प्रतिमा

शाम हो गई थी। लेकिन, पानी, कल या परसों नहीं बरसेगा, जितना भी जल प्रदाय करना होगा, आज ही शाम और रात भर में कर लेना। दोनों कोठरी की दीवार पर पानी की पीली-काली धारा, आंगन के बरामदे पर मूसलाधार बारिश, आंगन में जाना या खड़ा होना एकदम असंभव था। शाम हो गई थी, लेकिन ठीक समय जानने का कोई भी उपाय नहीं था। दुकान से आते समय घड़ी भींग गई। बंद हो गई। देसी घड़ी अधिक समय बाद ऐसे ही बंद हो जाती है।

चलने का क्या काम है? चांद, सूर्य, पृथ्वी, सभी जब चल ही रहे है अपनी धुरी पर, अपने वृत-गमन पथ पर, तब लोगों के चलने की क्या जरूरत? घड़ी भी बंद हो जाए। क्या समय हुआ, यह जानने का कोई उपाय नहीं रहा। उपाय नहीं है। सीता रसोईघर में है। ऊपर मूसलाधार बारिश, नीचे धरती पर रखा कोयले का चूल्हा नम हो गया है। धुआं बाहर होगा, लेकिन आग की लपटें नहीं उठेंगी। धुआं जहाँ हो वहाँ आग ही आग अवश्य होगी, न्याय-शास्त्र का यह अधिनियम मेरे रसोईघर में लागू नहीं है। मेरे रसोईघर में मेरी विवाहिता धर्मपत्नी और पत्थर कोयला का न्याय शास्त्र चलता है। और, इसके अनुसार धुआं होगा, लेकिन आग नहीं होगी। रात भर ऐसे ही वर्षा होती रहेगी, और सीता एक प्याला चाय तक नहीं बना पाएगी। मैं थका,

नारी शरीर के कारण संसार में दो वस्तुओं का उत्पादन होता है। एक साहित्य, कला, नृत्य और संगीत। और दूसरा 'क्राइम'। 'क्राइम' अर्थात् विग्रह, खून-खराबी, दंगा-फसाद, और इसके साथ और भी कई उत्पात। राम-रावण युद्ध का मूल कारण क्या सीता हरण नहीं था? क्लियोपैट्रा की मुस्कान के कारण मिस्र देश का इतिहास बदल गया। हेलेन के एक आलिंगन के कारण ट्राय साम्राज्य ध्वस्त हो गया। नारी शरीर न हो तो, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत, सभी नीरस और निष्प्राण हो जाएँगे। जैसे नीरस और निष्प्राण हुई सोई है हरखित मंडल की यह विधवा स्त्री, पतिया।

और अलसाया ही रह जाऊंगा।

इस अर्द्ध-नागरिक वातावरण में, एक रिक्शा आकर खड़ा हुआ, बरसाती ओढ़े, कनटोप लगाए, मेरे मित्र, श्रीमान लोकनाथ जी उतरे। आगे के बरामदे पर आकर चिल्लाए, 'भाभी, भाभी, एक प्याली चाय मेरे लिए भी बनाएँ।' उन्होंने मुझे देखा, हिन-हिन हंसने लगे। मैंने पूछा, 'अभी? इतनी रात को?.....कोई खास बात?'

लोकनाथ किसी किताब की दुकान में चाकरी करते हैं। डेरा अलग नहीं रखे हैं। रात में दुकान में ही सो जाते हैं। किताबों का ही तकिया और किताबों का ही बिछावन। एक सौ तीस रुपए मासिक आय है, इसलिए पटना नगरी में परिवार के साथ रहने का मन नहीं होता है। महीने, छह महीने पर गाँव हो आते हैं। इसी छह मासिक प्रेम-प्रसंग पर पूरा वर्ष काट लेते हैं। सात दिन पर, अर्थात् प्रत्येक रविवार को सिनेमा जाएँगे ही। कोई भी खेल क्यों न हो, धार्मिक अथवा सामाजिक।

लोकनाथ मेरे बाल सखा हैं। दस वर्ष, नहीं बारह वर्ष पहले एक ही साथ मैट्रिक में फेल होकर अजीविका के संबंध में पटना आया था। मुझे नौकरी नहीं मिली। दरबानी-चौकीदारी अथवा रसोई का काम मैं करूंगा नहीं। तब क्या करूँगा? और कुछ नहीं सूझा, तो चाय की एक छोटी सी दुकान करने लगा। वही दुकान अब बारह वर्ष के बाद 'प्रभात होटल' बन गई है। मेरा नाम है महेश्वर झा, किंतु नया टोला, भिखना पहाड़ी और मछुआ टोली के अधिकांश परिचित लोग कहते हैं-प्रभात बाबू! होटल का नाम ही मेरा नाम हो गया है।

होटल है, दस लोग हमेशा चाय, जलपान, भोजन करते रहते हैं, इसलिए मैं हूँ, मेरा व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व है। अपने होटल के कारण ही मैं प्रमाणित कर सकता हूँ कि मैं मनुष्य हूँ, मैं जिंदा हूँ, क्योंकि होटल के कारण ही मेरे जीन के लिए, मनुष्य होने के लिए चार पैसे मिल जाते हैं। मेरा होटल और मेरी धर्मपत्नी, जीवन में मेरे लिए यही दो सत्य, दो प्रमाण-केन्द्र हैं।

'सुनिए साहब, खुद ही आकर के चाह बना लीजिए'-रसोईघर से सीता बोलीं। 'साहेब' वे लोकनाथ को कहती हैं और साहेब से वह आधा मैथिली, आधा फारसी में ही बात करती हैं। देश के किसी गांव से, स्थाई तौर पर रहने के लिए पटना आने पर, स्त्री-जाति में पहला परिवर्तन यही होता है। कलांतर में, विद्यापति के पद जैसी मधुर मैथिल बाला के कंठ-स्वर पर मगही, पटनियां हिन्दी और भोजपुरी की मोटी परत चढ़ जाती है। सीता में दूसरा परिवर्तन हुआ है-देह-दशा और कार्य व्यवहार की अश्लीलता। निर्लज्जता नहीं, सीता अभी भी बहुत शर्मीली है। डेढ़ हाथ का घूंघट लेकर, देह समेटकर कोठरी के किसी कोने में दुबक जाए तो अभी भी पोटली की तरह 'नई-दुल्हन' ही लगती है। आँखों में लाज है सीता की। लेकिन काम-धंधे के समय देह-दशा अस्त-व्यस्त और अश्लील हो जाती है।

मोटी-सोटी थुल-थुल करती, मालगाड़ी की पुरानी इंजिन की तरह सीता इस ओसारे से रसोईघर के ओसारे पर जाती है, तो शरीर नहीं सम्भलता है। वे सम्भालकर रखने की चेष्टा भी नहीं करती है। अधिक समय ब्लाउज नहीं पहनती है। बहुत हुआ तो एक गंजी पहन लेती है, अधगंजी! अपरिचित लोग बरामदे पर खड़े रहें तो भी आंगन की पाईप पर नहाने लगती है। छींटदार पेटीकोट पहने, लक्स साबुन घिसती, पूरी तरह आत्म-विस्मृत हुई सीता नहाती रहती है। और बोलती है, 'इस्स आँख में साबुन का फेन चला गया। अब क्या करूं! हे राम!!'

लोकनाथ बरसाती और कनटोप किवाड़ पर टांग रहे हैं। रसोईघर में सीता धुआं के साथ संग्राम कर रही हैं। दूसरी कोठरी में अकेला सोया है दिलीप कुमार। हम लोग कहते हैं 'दिल्लू!' उम्र आठ वर्ष। पीला शरीर, हाथ-पैर में सूखा लगा, दिल्लू हमेशा बीमार ही रहता है। कभी सर्दी बुखार और कभी पिल्ही मलेरिया। दिल्लू के जन्म के बाद सीता को दो बार गर्भ क्षय हो गया। तीन-चार महीने अस्पताल में भी रह आई। उसके बाद कोई संतान नहीं। सीता की स्वाभाविक अश्लीलता इस प्राकृतिक शक्तिहीनता के कारण और भी बढ़ गई है। घट

गया है, देह-धर्म से सारी ममता-माया। शरीर का क्या काम? और निष्प्राण अशक्य शरीर की क्या लाज? 'सुनिए साहब, आप अपनी घरवाली को काहे नहीं ले आते हैं? इस बरसात में... चाह पीने के लिए इहाँ-उहाँ काहे को मुंह मारते है?' सीता बोली।

लेकिन लोकनाथ हंसे नहीं, मुस्काए भी नहीं। रुमाल से नाक-कान पोछते रहे। तदुपरांत चौकी पर बैठ गए। बोले, 'महेस्सर भाई, एक काम है। परम आवश्यक काम! इसीलिए इस आंधी-वर्षा में.....।'

मैं चिंतित हो गया। यदि कहीं इन्होंने रुपए पैसे मांग लिए, तो मैं विपत्ति में पड़ जाऊँगा। रुपया है, लेकिन रुपया मेरा नहीं है। पीरमोहानी चौक पर पान सिगरेट की एक कठघरा-दुकान खोलने के लिए रुपए जमा कर रहा हूँ। छः-सात सौ रुपए घूस-घास देने पड़ेंगे, तब वैसी अच्छी जगह मिलेगी कठघरा खड़ा करने के लिए। यदि लोकनाथ सौ-पचास रुपए मांग लेंगे तो मैं मुसीबत में पड़ जाऊंगा। लोकनाथ धीरे-धीरे बोले, ताकि सीता हम लोगों की बात नहीं सुन पाए, 'एक गरीब व्यक्ति की मदद करनी पड़ेगी। दुर्भाग्य से पीड़ित व्यक्ति की। आश्रय के लिए पागल कुत्ते की तरह व्याकुल, व्यथित और दिशाहीन व्यक्ति की....'

कौन लोग? कौन है? क्या बात है? मैं और भी आश्चर्य में पड़ गया। लोकनाथ बिना स्वार्थ के, बिना कारण के किसी का उपकार करने वाले जीव नहीं हैं। हमेशा अपनी ही तरफ खींचने में लगे रहते हैं। अपनी ही थाली में अधिक भात परोसेंगे, दूसरे की थाली लोकनाथ के लिए अधिक समय बिन देखी ही रह जाती है। विद्वान और पुराने लोग कहते हैं कि, 'थाली-कटोरे से अधिक महत्व अन्न का है। पत्ते-पल्लव से ज्यादा महत्वपूर्ण है फूल और उससे भी ज्यादा फल! मात्र फल ही, अंतिम और चरम चिंता का विषय होना चाहिए। मात्र फल ही पत्ते नहीं।'

लोकनाथ इसी पुराने बुद्धि-विचार के व्यक्ति हैं। थाली से, पात्र से, डाली-पत्ती से इन्हें कोई स्वार्थ नहीं रहता है। फिर, वे अभी इस आंधी-वर्षा में किसी समय के सताए, असहाय व्यक्ति की सहायता करने, क्यों आए हैं? कौन व्यक्ति है? कौन व्यक्ति अनाथ है? मैंने पूछा, 'साफ कहिए! अपनी फैशन वाली भौजाई की तरह संध्या भाषा में क्या कहते हैं? कौन व्यक्ति है?'

'चाय पीकर मेरे साथ चलिए, मेरी दुकान तक। रास्ते में ही बातें करेंगे। रिक्शा मैंने रोक रखा है'- लोकनाथ ने उत्तर दिया और उठकर रसोईघर की तरफ चले गए, अपनी भौजाई से बात करने के लिए, चाय की व्यवस्था में मदद करने के लिए। सीता के मैके के गाँव का नाम है-फैशन! पता नहीं, 'किस बुद्धिमान ने इस गाँव को 'फैशन' की संज्ञा दी।'

लेकिन, नाम रखा, बिल्कुल ठीक-ठाक। इसीलिए, सुविधा मिलने से मैं सीता को कहता हूँ- फैशन वाली। फैशन गांव की फैशन वाली 'हस्तिनी' सुंदरी, सीता दाई!!

अपना विशेषण सुनकर सीता दाई क्रोध में फंस जाती हैं। रसोईघर से चिल्लाती है, 'आज तक क्या रबर का पेटकसना* और जालीदार छतिकसना* की मैंने फरमाईश की है? किस दिन मेरे लिए स्नो-पाउडर लाए हैं? फिर मुझे आप लोग फैशन वाली क्यों कहेंगे? मुझे गाली क्यों देंगे? मैं क्या?.....

इस जगह दो कहानी स्मरणीय है। एक तो यह कि क्रोध, घृणा और किसी समय प्रेम के अतिरेक में आकर सीता शुद्ध मैथिली बोलने लगती है। क्रोध में फारसी भूल जाती है सीता, देसिल वयना से ही काम चल जाता है। दूसरी कथा यह कि 'फैशन' शब्द को वे गाली समझती हैं। फैशन मतलब, अंधेरी कोठरी की कोई अंधेरी बात-उसको यही पता है। सीता पुराने तरीके से रहती हैं। आंगन से बाहर के संसार से इतना ही सम्पर्क उसका है कि रिक्शा पर चढ़कर कभी गंगा स्नान के लिए दरभंगा घाट और कभी-कभी बिड़ला मंदिर में जाती हैं। काली मंदिर, राम मंदिर, राधा-कृष्ण मंदिर की तरह बिड़ला मंदिर, बिड़ला नाम के किसी देवी-देवता

का मंदिर होगा, पहले सीता यही समझती थी। अड़तीस कोटि देवता की पंक्ति में इस नाम के भी कोई देवता होंगे, यह असंभव नहीं। पहली बार वे लोकनाथ के ही साथ बिड़ला मंदिर गई। सीता, राम, लक्ष्मण और हनुमान की स्फटिक की मूर्ति के आगे प्रणाम कर, फूल-पत्ती रखकर, जलधार देकर बोली, 'साहेब, इसमें बिड़ला देवता कौन हैं?' लोकनाथ हंसने लगे।

रसोईघर में सीता से बात करते हुए लोकनाथ हंसने लगे। मैं गली में खड़े, रिक्शा वाले को बोला, 'बरामदे में आ जाओ। पानी में अधिक भींगोगे तो....।' चाय आ गई। सीता चौकी के एक कोने पर बैठकर खुद भी चाय पीने लगी। लोकनाथ चाय पीते हुए मेरी ओर देखते रहे। डेरा में सीता को अकेले छोड़कर, अभी बाहर जाने का साहस मुझे होगा या नहीं। मैंने सीता को कहा, 'मैं दुकान जा रहा हूँ। काम है। आप खा-पीकर सो जाना।'

उसका पति कॉमर्सियल बैंक में चपरासी था। मीठापुर में एक कोठरी लिए हुए था। शांति-सुविधा से रहता था। लेकिन, बुखार हुआ, अस्पताल गया, धनुषटंकार हो गया। जांघ पर एक फुंसी हुई थी, उसी का सारा यह उत्पात था। अस्पताल के बरामदे पर बैठी, सत्रह दिन तक वह रोती रही। अठारहवें दिन सुबह में बैंक का चपरासी, हरखित मंडल इस असार संसार को त्यागकर परलोक चला गया। अपने साथ अपनी स्त्री का लोक-परलोक-दोनों लिए गया।

वह अब असहाय है। स्वामी के मरने के बाद अब मीठापुर से भाग आई। कहाँ जाए, क्या करे... अभी उम्र भी नई है... यही चौबीस-पच्चीस। पतिया का मैका मेरे ननिहाल में ही है...

लोकनाथ ने मुझे सारी कहानी स्पष्ट सुनाई। पतिया असहाय है। कहाँ जाएगी? ससुराल में कोई नहीं। देवर लोग मोरंग-रंगपुर में नौकरी करते हैं।

'मैके क्यों नहीं चली जाती है?' मैंने प्रश्न किया। लोकनाथ एक क्षण चुप रहे। फिर बोले, 'वह मर जाएगी, लेकिन लौटकर मैके नहीं जाएगी। मैका में सौतेली माँ है। बाप मर गया है।'

'तब?'

'तब क्या? कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी।'

'क्या व्यवस्था?'

'तुम्हारा चौका बरतन करेगी, भाभी की सेवा करेगी, किसी बरामदे पर पड़ी रहेगी...।'

अपनी दुकान पर आ गया, 'प्रभात होटल'। एक भी ग्राहक नहीं था। ऐसे खराब समय में कौन चाय पीने आएगा? रमसरना और गुलेटन होटल वाले बड़े चूल्हे के पास बैठकर बीड़ी पी रहे थे। मुझे आते देखकर बीड़ी फेंक दी। आश्चर्य हुआ कि इतनी रात गए मालिक क्या करने आए हैं? कुर्सी पर बैठकर लोकनाथ बोले, 'रामसरन, खूब गर्म-गर्म दो चाय बनाओ! और देखो, दूध थोड़ा अधिक देना।'

मैं सोच में पड़ गया। सीता कितने दिनों से कह रही है, एक दाई रख लीजिए! लेकिन, दाई क्यों रखूं! तीन प्राणी के लिए दाई नौकर का क्या काम? होटल में दो नौकर हैं। एक रसोईया। रामजी मेरा भतीजा, वह भी होटल में ही रहता है। फिर, आंगन में दाई रखने से क्या लाभ? रमसरना सुबह-शाम डेरा पर जाकर बरतन धो देता है, कोयला फोड़ देता है, हाट-बाजार कर देता है।

'लेकिन, एक स्त्री के जीवन-मरण का प्रश्न है महेस्सर भाई! मदद नहीं करेंगे तो वह आंधी तूफान में बह जाएगी। मर-खप जाएगी...पटना शहर का हाल-चाल तो जानते ही हैं?' लोकनाथ यह एक गंभीर बात बोले। हरखित मंडल मर गया। अस्पताल के लोगों ने चंदा जमा करके उसका दाह-संस्कार किया। पतिया हवा-तूफान में सूखे पत्ते की तरह उड़ गई। चार दिन कॉमर्सियल बैंक के एक किरानी महोदय के घर पर रही। किरानी के घर में एक भी स्त्री नहीं। पुरुष ही पुरुष। वहाँ से भागकर एक सिख ड्राइवर के डेरे में आई। डेढ़ महीने रही। ड्राइवर साहेब रात में दारू पीते थे। अपनी स्त्री और बच्चों के साथ मार-पीट करते थे। पतिया को भी किसी

रात दो-चार, थप्पड़-लात लग जाता था। वहाँ से भी भागी। कहाँ जाए? क्या करे? कोई गृहस्थ गृहणी ऐसी पकी और असहाय युवती को अपने घर में नौकरानी भी रखना नहीं चाहेगी, कौन जाने, कब उनका मन हाथ से बेहाथ हो जाए...। पतिया सूखे पत्ते की तरह फड़फड़ाती रही। इस गली से उस गली। इस अंधेरे घर से उस अंधेरे घर। कहीं दो दिन रही, कहीं एक पहर। उसके बाद ढूंढती-ढूंढती लोकनाथ की दुकान पर आई। कल शाम में। लोकनाथ का भाग्य अच्छा था, उस समय दुकान पर कोई नहीं था। मालिक कलकत्ता गए थे। बरसात के कारण दुकान पर भीड़ नहीं थी।

लोकनाथ पहले तो पहचान नहीं पाए, लेकिन पहचानने में ज्यादा देर नहीं लगी। अस्पताल में एक बार हरखित मंडल को देखने के लिए लोकनाथ गए थे। उसके दूसरे दिन दोपहर में पतिया दुकान पर आई थी, तीन रुपए मांगकर ले गई थी। हरखित के दाह-संस्कार में लोकनाथ नहीं गए थे। दाह-संस्कार के उपरांत पतिया कहाँ चली गई, वह भी इन्हें नहीं पता था।

एक बार लोकनाथ मीठापुर गए भी थे, पता चला कि एक महीने से पतिया का कोई पता नहीं। आकाश में उड़ गई या पाताल में लुप्त हो गई। कल शाम में पतिया को इस ध्वस्त हालत में देखकर लोकनाथ को अधिक आश्चर्य नहीं हुआ। ऐसी कहानी का यही अंत होता है। लेकिन, लोकनाथ बोले, 'पतिया की कहानी क्या कहूं भाई! आप बुद्धिमान लोग हैं, सारी बात समझते ही होंगे। मैंने उसे किताब के गोदाम में रख दिया है। बोला,'तुम तब तक इसी जगह रहो। कोई न कोई व्यवस्था हो जाएगी। रोने से क्या लाभ?' पूरी रात उसी जगह रही। पूरा दिन वहीं रही। अभी भी वहीं है। अब आप ही कहें, मैं उसे कहाँ भगा दूं? और मुख्य बात यह है कि, आज शाम में मेरे मालिक, कलकत्ता से लौट आए हैं। कल सुबह दुकान पर आएँगे। नई किताबें लाए हैं, वह सभी गोदाम में रखेंगे...।'

किताब के एक बंडल पर सिर रखे अखबार बिछाकर पतिया नींद में है। शरीर से कपड़ा हट गया है। पसीने से चेहरा भींगा हुआ है। आँखों की पुतलियां बंद। महीने, डेढ़ महीने से इस भटकावे में, पलायन में, प्राण रक्षा के लिए घिघियाती पतिया की देह नहीं टूटी है। गाँव के मिट्टी-पानी से गढ़े गए शरीर को टूटने में एक युग, दो युग, तीन युग लग जाता है। मैं और लोकनाथ किवाड़ के पास खड़े थे। थोड़े शर्माते हुए स्वर में लोकनाथ बोले, 'ऐसी जबर्दस्त भैंस को खूंटे से बांधकर नहीं रखा जाता...।'

लेकिन, उनका वाक्य सम्पूर्ण नहीं हुआ। मेरी ओर देखकर वे चुप हो गए। मैं पतिया के विषय में नहीं, नारी शरीर के विषय में सोच रहा था। सोच-विचार में पड़ गया था। ऐसे ही नारी शरीर के कारण संसार में दो वस्तुओं का उत्पादन होता है। एक साहित्य, कला, नृत्य और संगीत। और दूसरा 'क्राइम'। 'क्राइम' अर्थात् विग्रह, खून-खराबी, दंगा-फसाद, और इसके साथ और भी कई उत्पात। राम-रावण युद्ध का मूल कारण क्या सीता हरण नहीं था? क्लियोपैट्रा की मुस्कान के कारण मिस्र देश का इतिहास बदल गया। हेलेन के एक आलिंगन के कारण ट्राय साम्राज्य ध्वस्त हो गया। नारी शरीर न हो तो, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत, सभी नीरस और निष्प्राण हो जाएँगे। जैसे नीरस और निष्प्राण हुई सोई है हरखित मंडल की यह विधवा स्त्री, पतिया।

जैसे कितने महीनों के बाद पतिया को पूरी नींद सोने का अवसर मिला हो। चारों ओर, किताबें ही किताबें ढेर लगी हुई। कोर्स की किताब, उपन्यास, कविता संग्रह और थीसिस की मोटे-मोटे ग्रंथ। पतिया सोई है। लोकनाथ पूछते है, 'क्यों महेस्सर भाई, क्या विचार? इस अनाथ को आश्रय देंगे?... इस गोदाम से तो इसे सुबह से पहले हटाना पड़ेगा।'

एक ग्रामीण स्त्री, छोटी जाति की, जिसके शरीर में गांव के गाय-गोरू और आम-जामुन की गंध, जिसके मन में अभी भी कहीं फैला होगा, खेत-खलिहान मजदूरी और पानी पिलाना, वह ग्रामीण स्त्री मोटे-मोटे ग्रंथ के

बीच में पड़ी है। द्यूत-क्रीड़ा में बेची गई द्रौपदी की तरह। मुनि के श्राप से पत्थर हुई अहिल्या की तरह। मुझसे अब चुप नहीं रहा गया। सीता को कोई आपत्ति नहीं होगी। किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। रमसरना को डेरा की बेगारी से छुट्टी मिल जाएगी...।

मैं बोला, 'कल सुबह इन्हें मेरे डेरे पर लेते आइए। अपनी भौजाई को सारी बात कह दीजिए। वे बातें मान लेंगी।'

'नहीं, यह संभव नहीं होगा। मुझे आज ही रात में पतिया को इस जगह से हटा देना पड़ेगा। आज ही रात। सुबह में अगर मालिक देख लें कि मैं एक जहाज जैसी औरत को किताब की दुकान में बंद कर रखा है तो मेरी नौकरी चली जाएगी।' लोकनाथ उत्तेजित होते हुए बोले।

पतिया जग गई। अपरिचित व्यक्ति को देखकर हड़बड़ाकर उठी, आंचल संभालती, लजाती खड़ी हो गई। लोकनाथ गोदाम के भीतर गए। पतिया को मेरे विषय में समझाने लगे कि मैं कौन हूं, और मैं उसे कैसे आश्रय दे रहा हूँ। पतिया एक बित्ता घूंघट तानकर मेरी ओर पीठ किए खड़ी रही। ब्लाउज नहीं पहनी थी। लेकिन साड़ी ज्यादा मैली नहीं थी। मैं बाहर दुकान में चला आया। दुकान के और कर्मचारी अर्थात नौकर जा चुके थे। ताला चाबी लोकनाथ के कब्जे में रहता है। इसी जगह दो टेबुल जोड़कर, बिछावन बिछाकर वे रात और दिन जीवन काटते हैं। लोकनाथ ने मुझे आवाज दी, बोले, 'महेस्सर भाई! इधर आइए। पतिया को सारी बात समझा देते हैं।' मैं फिर गोदाम में गया।

'ये मेरे अपने बड़े भाई जैसे हैं। इनके ही घर में तुम रहोगी। बरतन मलना, घर बुहारना, परिवार का सारा काम तुम्हें करना होगा। मालकिन का पाँव दबाना पड़ेगा। मालिक जो कहेंगे, सब करोगी, करोगी न?'-लोकनाथ ने पूछा। एक बार थोड़ा घूमकर पतिया ने एक नजर मुझे देखा। मेरे आधे बाल पक गए हैं। बूढ़ा नहीं हुआ हूं, लेकिन एक तरह से बूढ़ा-पुराना हो गया हूं। चेहरा-मोहरा देखकर कोई मुझे चोर लफंगा नहीं कहेगा। थोड़ी सी तोंद भी प्रतिष्ठा के चिह्न की तरह है ही।

पतिया ने सिर झुका लिया। बोली एक भी अक्षर नहीं। लोकनाथ ने दूसरी बार पूछा, तीसरी बार, चौथी बार, जब क्रोधित हुए, तो वैसे ही घूंघट में सिर छिपाए बोली, 'जो कहेंगे, वह सारा काम करूंगी।'

प्राण-रक्षा के लिए उच्छिष्ट और सड़ा-गला भी खाना पड़े तो अनुचित नहीं है, ऋषि-मुनि यही कहते आए हैं। प्राण-रक्षा के लिए पतिया को, जो कहा जाएगा, सब करने के लिए प्रस्तुत है।

दो रिक्शे लाए गए। लोकनाथ ने दुकान में ताला लगाया। पतिया के साथ रिक्शा पर बैठ गए। दूसरे रिक्शे पर मैं था। वर्षा की तेजी समाप्त हो चुकी थी, लेकिन पानी अभी भी पड़ रहा था। हल्की बूंदे, बौछार नहीं, मेरे डेरे पर रिक्शा रोका गया। लोकनाथ ने ही रिक्शों का भाड़ा दिया। चार-चार आना। धीमे स्वर में बोले, 'भाई, अब अभी मैं जाता हूँ। सुबह आऊँगा। भाभी अवश्य मान जाएँगी। सारा हाल उन्हें मैं कहूंगा।' और इतना कहकर उल्टे पांव लौट गए। पानी का वेग बढ़ गया था।

चारों ओर सभी लोग अपने-अपने घर में दरवाजा ठोककर सोए थे। किसी आंगन में बिजली या लालटेन नहीं जल रहा था। बरामदे की दीवार से सटकर सोया है एक कुत्ता। भींगता थर-थर करता। पतिया भींग रही है। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि गृह प्रवेश कैसे किया जाए? अपनी कोठरी में सीता नींद में सोई है। नाक बज रहा है। इस नाक बजने के भय से त्रस्त मैं दूसरी कोठरी में सोता हूं। अभी दोनों कमरे भीतर से बंद है। दरवाजा खटखटाकर मैं सीता को उठाऊं, तो पतिया को देखकर वो क्या बोलेगी? कैसे क्रोधित होगी? कैसे बोलेगी, 'इतनी रात में, कहाँ से इस गृह-भंजनी को उठा लाए हैं? कौन है यह राक्षसनी? कौन है? बोलिए, कौन है? हड़कंप क्यों हो गए है?...तुम्हीं बोल न रे कलमुंही! क्या लेने आई है?' और सीता ऐसे स्वर में, ऐसे संगीतबद्ध तरीके से यह सभी बात कहेगी कि दीवार के उस पार के

शर्माजी जग जाएँगे, और सामने वाले घर के बाल बच्चे समेत सभी लोग अपने बरामदे पर चले आएँगे, तमाशा देखने के लिए। दिन-दहाड़े कितनी बार सीता रानी ने ऐसा तमाशा लगाया है। एक बार तो अपना छोटा बक्सा सिर पर उठाकर दिल्लू को घसीटते हुए, मेला घूमने वाली के भेष में मुझसे घनघोर झगड़ा करके सीता रानी मैके भागी जा रही थी। शर्माजी की स्त्री आ गई। समझाने-बुझाने लगीं तो सीता ने उनसे भी गाली-गलौच कर ली। इज्जत नहीं बची। गली में खड़े हुए पास-पड़ोस के लोग व्यंग्य बाण छोड़ने लगे। लेकिन, संयोग से उसी समय लोकनाथ आ गए और अपनी भौजाई का हाथ पकड़कर, सिर पर से बक्सा छीनकर, उन्हें खींचते हुए भीतर आंगन में ले गए। मामला, रफा-दफा हो गया।

यदि, वही तमाशा सीता अभी, इस प्रलय रात्रि में आरंभ कर दे? लोग क्या कहेंगे? लोग कहेंगे, 'प्रभात होटल के मालिक या महेश्वर झा कहीं से एक औरत फसाकर लाए हैं, और इसलिए धर्मपत्नी भागी जा रही है। अतएव, रुमाल से भींगा चेहरा पोछते हुए, ठंड से कांपते हुए से, मैने पतिया को कहा,'तुम दीवार से सटकर खड़ी रहो। मैं दरवाजा खुलवाता हूँ। दरवाजा खुलवाकर मैं भीतर जाऊंगा। तुम छिपी रहना। फिर, थोड़े समय के बाद, मैं तुम्हें भीतर ले जाऊंगा। उसके बाद देखा जाएगा। तुम्हें ले आया हूँ मैं तो शरण तो अवश्य ही दूंगा। धोखा नहीं करूंगा।'

पतिया, दीवार से सटकर पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी हो गई। पानी फिर मूसलाधार बरसने लगा। तेज बौछार और पानी के बूँदे आधे-आधे किलो की, जैसे पत्थर गिर रहा हो। जोर से दो तीन बार बिजली चमकी। किसी दूसरे गांव में जरूर वज्रपात हुआ होगा। पतिया दीवार में समा गई, सटकर एकाकार हो गई। पतिया स्त्री नहीं है, मुझे उसी एक क्षण में आभास हुआ कि पतिया ईंटों से चुनाई की गई दीवार का एक मनुष्याकार पजेबा है, काली पजेबा, तीन हजार वर्ष पुराना।

यह पजेबा वैशाली की एक ग्राम-कन्या के शरीर पर गिरी तो वह अजातशत्रु राजा और गौतमबुद्ध संन्यासी की राजसी और मानसी हो गई। यही पजेबा बंगाल की एक महारानी राममनि के सिर पर गिरी, तो वह परमपुरुष रामकृष्ण परमहंस की पोषिका और भक्त शिरोमणि हो गई।

यह पजेबा क्या है? यह पजेबा है, पतिया का पूरा शरीर और शरीर से ज्यादा, बिजली की क्षणिक रोशनी में चमकती पतिया की मरी मछली की तरह की आँखें। इन आँखों में जीने की, जीवन देखने की और सहते रहने की लालसा है। इसीलिए मरी मछली चमक जाती है, छटपट करती है।

अंत में, बहुत देर के बाद, दरवाजा खुला। नींद और पसीना से लथपथ, आँख मलती हुई बोलीं, 'ओ माँ, इतनी रात हो गई? कहाँ थे? खाना तो बर्फ हो गया। चलिए, मुझे नींद आ रही है।' कितना भी कहा कि मैं नहीं खाऊँगा, नहीं ही खाऊँगा, लेकिन कौन मानता है? धोती उतारकर मैंने लुंगी और सूखी कमीज पहनी। दो-चार-दस कौर खाया भी। हाथ धोकर अपने कमरे में आया, बिस्तर झाड़ने लगा, ताकि बत्ती बुझाकर सीता रानी सोए और मैं बरामदे के नीचे, दीवार के पास घनघोर पानी में भींगती पतिया को भीतर ले आऊँ।

लेकिन, सीता बरतन बगैरह समेटकर, बर्फ की तरह ठंडे दूध का बड़ा गिलास लिए मेरे कमरे में चली आई। मैं नाक मुंह बंदकर एक ही घूंट में पूरा गिलास पी गया कि अब ये अपने कमरे में जाकर सो रहें। पर सीता रानी चौकी पर बैठ गई। बोली, 'एक बात कहनी है, आप सुनेंगे?' मैं आश्चर्यचकित हो गया। सीता ऐसे प्रेमपूर्ण शब्दों में कभी भी बात नहीं करती है। आधी रात बीतने के बाद ऐसा प्रेम क्यों?

'कहिए क्या कहना है, मैं सोऊंगा, तबीयत ठीक नहीं है।'

'पानी में भीगेंगे तो ऐसा क्यों न होगा? शरीर का ख्याल ही नहीं रखते हैं आप।'

'क्या कहना है?'

'आप सुनेंगे?'

'आप कहेंगी तो सुनूँगा ही।' मैं बोला, और तकिया पर सिर रखकर चित्त पड़ा रहा। सीता सिरहाने में बैठी रही। बाहर दीवार से सटी, पत्थर बनी, काली मिट्टी की एक मूर्ति भींग रही है। भींगी जा रही है। पानी की पागल बौछारों से गल रहा है उसका सम्पूर्ण अस्तित्व। थोड़ी देर तक वैसे ही लजाते रहने के बाद सीता रानी बोली, 'सुनते हैं?... आप दूसरी शादी कर लीजिए! मुझसे आप संभलते नहीं है!' मुझे मन ही मन हसी आ गई। लेकिन हस नहीं पाया। मैं हस देता तो वह चिढ़ जाती। बिना बात के बात, बढ़ जाती। इसीलिए मैंने पूछा, 'सो क्या?' सीता ने बड़ा ही गंभीर रूप धारण कर लिया। गंभीर और रहस्यमय, अपने स्वभाव के बिल्कुल ही विपरीत।

'मुझे अब संतान नहीं होगी। तब क्या, एक ही दिल्लू को लेकर आप जीवन काटेंगे। एक और शादी कर लीजिए।'

'आप पागल हो गई हैं?'

'मैं पागल नहीं हूँ। आप जरा अच्छी तरह से इस पर ध्यान दें। एक ही संतान से बूढ़ी अवस्था में काम नहीं चलेगा।'

जाइए अब आप सोईए। सुबह बातें होंगी।

और थोड़े समय तक, यही सब कवित्वपूर्ण गप-शप करके, सीता अपने कमरे में चली गई। बत्ती बंद कर ली। मैं अपने बिस्तर पर सोने का बहाना करता, सीता के खर्राटे की प्रतीक्षा करने लगा। नाक नींद में ही बजती है। नाक बजे तो मैं पतिया को कमरे में बुला लूंगा। उसके बाद ही सोचा-विचारा जाएगा कि अब क्या किया जाए। लेकिन, बहुत देर तक सीता जगी ही रही। एक बार पानी पीने के लिए उठी। उसके कुछ समय बाद नाक का तार-स्वर प्रारंभ हुआ।

सीता अब सुबह से पहले एक बार भी नहीं उठेगी। और लोकनाथ सुबह आएँगे। सुबह होने में अब कितनी देर है? कितनी रात बीत गई है? कितनी रात? बत्ती जलाकर, किवाड़ खोलकर, मैं बाहर आया। पतिया वैसे ही दीवार से लगी खड़ी थी, थरथराती। पानी का गाछ बनी हुई। काली हवा, पानी की बौछारें और पत्थर के ढेले की तरह बूंदे। मैंने हाथ से इशारा किया, 'चलो आओ, जल्दी चली आओ। पतिया, आ जाओ।'

पतिया मेरे नजदीक आकर किवाड़ के पास खड़ी हो गई, जैसे बाढ़ के उफान वाली किसी नदी में बहती कोई लाश, किसी एक वृक्ष की बहती डाल में फंस जाती है। लाश की ही तरह बहती हुई पतिया। कमरे में आकर वह दांत किट-किटाने लगी। शरीर थरथर कांप रहा था। आँखें में ज्वाला दहक रही थी। मलेरिया का मारा आदमी ऐसे ही तप जाता है। पतिया जमीन पर बैठ गई। उससे खड़ा नहीं रहा गया। दीवार से सटकर बैठती, पतिया बोली, 'मुझे ठंड लग रही है। बहुत ठंड।'

बक्सा खोलकर, मैंने अपनी धोती बाहर निकाली। धोती और एक चादर। बोला, 'लो, पहन लो, मैं बाहर जाता हूँ।' आंगन के बरामदे पर आया। सोचा, कहीं ओसारा पर, अलगनी पर सीता की कोई सूखी हुई ब्लाउज और पेटीकोट पड़ी होगी तो लाकर इसे दे दूंगा। बाहर से ही सीता की सूती ब्लाउज और छींट की पेटीकोट, कोठरी में फेंककर, मैं बरामदे पर टहलता रहा। एक बार सीता की कोठरी में गया सीता नींद में डूबी हुई है। उठने की कोई संभावना नहीं। नाक बज रही है। ठंड के कारण दिल्लू ने बिस्तर गीला कर दिया है। बत्ती बुझाकर मैं अपनी कोठरी में चला आया। तब तक मेरे बिस्तर में से एक कंबल खींचकर सीमेंट पर बिछाकर और चादर से हाथ-पैर ढककर पतिया सो गई।

वह चादर के नीचे थर-थर कांप रही थी। दांत किटकिटा रही थी। पांच किलो रूई वाली मेरी रजाई एक कोने में बंधी पड़ी थी। मैंने बाहर निकाला। ओढ़ा दिया। रजाई ओढ़ाने में पतिया की देह में हाथ छू गया। पतिया का शरीर कोयल की आग जैसा तप रहा था। फिर, छूकर देखा एक सौ तीन, एक सौ चार डिग्री बुखार तो अवश्य ही हो गया होगा।

पूछा, 'बुखार हो गया है? बहुत ठंड लग रही है? दम साधकर सो जाओ। सुबह तक बुखार छूट जाएगा।'

वह दांत किटकिटाती रही। कोई उत्तर नहीं दिया। बारिश बंद हो गई। मैं बत्ती बुझाकर अपनी चौकी पर सो रहा। विचार करता रहा-सुबह कौन सा तमाशा होगा? क्या होगा? सीता क्या करेगी? एक छोटी जाति की स्त्री पूरी रात मेरी कोठरी में, धरती पर ही क्यों न हो, पर सोई तो है, यह समाचार सुनकर सीता रानी किस भाषा में बात करेगी। मैथिली में या फारसी में? यह कोई नहीं पूछेगा कि पतिया को कितना बुखार है? सब यही समझेंगे कि बुखार तो एक नाटक है।

सीता की नाक लगातार रात से बज रही है। बूढ़ी-दादी के चर्खा की तरह। घर्र...घर्र...। और इस कोठरी में धरती पर सोई पतिया बुखार की गर्मी में बेहोश हुई, अनाप-शनाप क्या-कहाँ बोल रही है-'मर गई ओ माँ, अब नहीं, अब दूसरा आदमी नहीं...हे भगवती, मेरे प्राण बचा लो, मेरे प्राण.... मुझे मारो मत, हे भगवती मुझे जीने दो.... मुझे त्याग कर कहाँ चले गए जी हरखित मरड़, अजी हरखित! कहाँ गए जी? जय भगवती, जय भगवती, जय, जय....माँ री माँ... मेरे हाथ छोड़ दे रे पापी सब, मेरी चूड़ियां फूट चुकी हैं, रे मेरा हाथ छोड़ दे। रे कुत्ता, पागल है, मेरी हड्डी खाता है, पागल कुत्ता है... मेरा खून पीता है....।'

मुझे इस हालत में भी नींद आ गई। उम्र अब कम नहीं हुई। और पानी में मैं भी भींगा था। शरीर मेरा भी गर्म था। नींद आ गई। पतिया का हाहाकार, सीता का नाक-बाजा, हवा, पानी, तलवार जैसी चमकती बिजली-सभी मेरे लिए नींद के अथाह समुद्र में डूब गया। सुबह कब होगी? कब?

धूप निकलने के बाद मेरी नींद खुली। लोकनाथ आ चुके थे। अपनी भौजाई से पूछ रहे थे, 'वह कहाँ गई? कहाँ गायब हो गई? भाभी, आपने बहुत खराब काम किया। आपने उसे कहाँ भगा दिया?'

'मैं बोली-जहाँ से आई हो, वहीं चली जाओ। मेरे घर में आग मत लगाओ। भाग जाओ यहाँ से। मैंने कहा और वह इनकी धोती और मेरा ब्लाउज उतारकर, अपनी गुदड़ी-चेथड़ी पहनकर चली गई। तब तो ठीक से सुबह भी नहीं हुई थी।' सीता रानी पाइप के पास बैठी, अपनी ब्लाउज में साबुन लगाती हुई बोली।

मेरी नींद भक्क से खुल गई। मैं साकांक्ष हो गया। पतिया भाग गई? बुखार के इस हालात में सीता ने उसे भगा दिया? हे ईश्वर! लोकनाथ ने थोड़े तीव्र स्वर में पूछा, 'आपने एक बार महेस्सर भाई को उठाकर पूछा क्यों नहीं? मुझे क्यों नहीं बुला लिया?'

सीता ने ब्लाउज पटकना बंद कर दिया। साबुन लगा हाथ धोकर खड़ी हो गई। लड़ाई करने की स्वर-शैली में बोली, 'साहेब, आप मुझे इतना बेवकूफ समझते हैं, मैं उस छिनाल औरत को अपना सौतन बना लेती? उसे अपने ऊपर राज करने देती? मैं इतनी बेवकूफ नहीं हूं साहेब।'

मैं एक बार फिर आँख मूँदकर सो जाने की कोशिश करने लगा। धूप हो गई है लेकिन, मैं घोर निद्रा के समुद्र में डूब जाना चाहता हूं। लाज की रक्षा और कैसे होगी?

संपर्क : ए-2/172, आयानगर एक्सटेंशन,
फेज-5, नई दिल्ली-110047

---

*देहाती क्षेत्र में पुराने ख्याल की निरक्षर स्त्रियाँ 'ब्रा' को 'छतिकसना' कहती हैं। छाती को कसने वाला कपड़ा 'छतिकसना'। उन दिनों देहात में 'ब्रा' या 'ब्रेशियर' कहने का चलन नहीं था।

प्रदीप कांत

एक

अबकि जब भी मुलाकात होगी।
देश के बारे में बात होगी।

पत्थर हैं पागल के हाथ में
शरीफ़ों की खुराफात होगी।

कल के लिये जीने वालों पर
वर्तमान की ही घात होगी।

सूखे खेत के सपनों में शायद
बादल होगें, बरसात होगी।

किस कदर सिकुड़ कर सोया है वह
फटी चादर की औकात होगी।

दो

कितना वज़न बस्तों में।
सहमा बचपन बस्तों में।

ऐब हुआ है तुतलाना
क़ैद बाल मन बस्तों में।

फूल पत्ती बाग वृक्ष
अब सारा वन बस्तों में।

ममतामयी छाँव के बिन
सारे पल छिन बस्तों में।

शायद लिखें भविष्य एक
है तो कलम बस्तों में।

कंचे छूटे हाथों से
खेल की थकन बस्तों में।

तीन

रेत पर दरिया लिखा।
इस तरह दुनिया लिखा।

तब ही मुकम्मल लफ़्ज थे
दर्द जब साँझा लिखा।

धूप का अहसास ही था
ग़र कभी साया लिखा।

एक कलम का फर्ज़ था
जो दिखा वैसा लिखा।

दर्द फिर नश्तर हुआ
शेर फिर उम्दा लिखा।

देखी जहाँ रवानगी
रुक गये दरिया लिखा।

रश्मियों में सूर्य की
चाँद का हिस्सा लिखा।

चार

जब कभी उठेगी नज़र।
आपको चुभेगी नज़र।

आग भी है, पानी भी
जलेगी बुझेगी नज़र।

एक तहजीब है ये भी
नज़र को पढ़ेगी नज़र।

आप भले चुप्पा रहें
सरेआम कहेगी नज़र।

पाँच

किस्सा गोई करती आँखें।
सिकुड़ी और पसरती आँखें।

दिखने को गहरी झीलों सी
झरनों जैसी झरती आँखें।

मरने लगा आँख का पानी
आँखों से ही डरती आँखें।

आँखें ही जाने आँखों की
क्यों ख़ामोंश लरज़ाती आँखें।

लगती होगीं निश्छल तुमको
अपना कहा मुकरती आँखें।

कविता के शब्दों सी कुछ कुछ
परत दर परत परती आँखें।

संपर्क : बी-30/6, केट कॉलोनी,
इंदौर - 452013(म.प्र.)

अनूप अशेष

दिन भर चलैं कोतात

पत्ती–पत्तिन हरिअर आँखी
सूखौ कहूँ देखात,
आबत–जात
गईं घिस पनहीं
कूते नहीं कुतात।

होइगै सड़क उदास ज़िंदगानी
पइदल आमैं साँस,
झंझठ घर कै
राज कै साँसत
पातर–पातर फाँस।

आपन–आपन काँध बचामैं
अँगुरी
होइगै तात।

नदी सकेलै आपन बहुँका
गोड़ेन रेत जरै,
पानी के दुइ
बूँद का आँधर
केखे कुँआ भरै।

आपन भाग देह से लाँगड़
दिन भर
चलै कोतात।

आधी-आधी रोटी मा

आधी-आधी रोटी मा
रहा गाँव परसपर,
अपने सुख-दुख
का बाँटे सब
जिअत रहे घर।

दुख मा ढाढ़स देंय का
किस्सा खूब सुनामैं,
बड़े-बूढ़
भीतर-बहिरे
जिउ भर दुलरामैं।
मूँड़े से असीस कै पगड़ी
होइगै बाहर।

एक हवा मा सबके भीतर
महकैं बेला,
सबके बइठे मा
घर लागैं
अउसर मेला।

गली-गली मा बारी रुँधगै
मा सब दूभर।
नोन-तेल चुल्हबन कै आगी
साँझ लै आबै,
मीठ-मीठ बेउहार
अँगाकर
कंडन गाबै।

मेल-जोल कै नदी सूख
गै लोटबन मा भर।

आसौं सामन मा

सोयके उठतै उतान मै छाती
आसौं सामन मा
आन भै छाती।

देख के धान
जिउ जुड़ान बहुत,
बाली निफरतै
भै
खेतबन से साहुत।

पूड़ी मा खीर
खैनी से पान
भै छाती।

सुरिज के साथ चला घर
पहिन के पनही,
डिठहा मेंड़न मा बइठ
टोंकी ता
टोंकी किनहीं।

सुअन के पँखनन कस
हरिअर मचान
भै छाती।

कुरई कुठिलन का आसौं
पेट भरी,
बासमती के परछन
दालिद भागी
उतरी।

चाउर केर माँड़
गोहूँ का पिसान
भै छाती।

कंडन केर धुआँ

रमकलिआ के घर मा
कंडन केर धुआँ है,
बिना तेल कै
ढिबरी
आँधर एक कुआँ है।

आँखी सब करुआँय
पनेथी अँगने सेंकै,
आधा-पेट
खायके
भूँख राख मा फेंकै।

दुइ दानन का ताके
पिंजरा बंद
सुआ है।

पूर मजूरी मिली न कबहूँ
पंचाइत घर से,
राज-काज के
खितिर कटउती
काटैं हफ्ता भर से।

चुल्हबा रहै बुतान
मुखिया घर
मालपुआ है।

रोज खनै का रोज पियैं का
अइसन कुआँ मे दिन,
दिल्ली बइठ
भोपाल बइठ के
केतना झूँठ कहिन।

बड़े घरन मा लगुआ होइगे
गाँव-गाँव के
नथुआ।

देखान चंद्रमा

भूँख मा अँगाकर कस
है देखान चंद्रमा।

थरिआ मा मुँह धोइस
फेर देखान पानी मा,
प्रेमिन के
आँखिन मा
नेउना मथानी मा।

काँस के मड़इआ मा
मुँह सुखान चंद्रमा।

अपने देहें कमठे
गोदना गोदाए है,
आजौ अपने
घाटिन
चाँदनी बहाए है।

परिअन के पोलका
मा हेरान चंद्रमा।

बिरबन के झुरमुट से
खिरकिन के ओट गा,
अबइआ
जबरअन के
नहन से बखोट गा।

सीसन के आँखिन मा
है डेरान चंद्रमा।

संपर्क : अतुल मेडिकल स्टोर, हास्पिटल रोड,
सतना (म.प्र.) पिन-485001
मो. 09424934472

डॉ. रमानाथ त्रिपाठी

जब हम दिल्ली आये-आये थे

फरवरी, 1967 दिल्ली में महानगर परिषद् की स्थापना हुई। चुनाव में जनसंघ की विजय हुई। श्री विजय कुमार मल्होत्रा प्रथम कार्यकारी पार्षद निर्वाचित हुए। मुझे बहुत प्रसन्नता हुई थी। मैंने कोचिन से प्रकाशित 'युगप्रभात' पाक्षिक में इन पर सचित्र लेख लिखा था।

विजय जी से मेरी भेंट 1964 ई. में ही कभी संघ-चालक लाला श्री हंसराज के बँगले पर हुई थी। वहाँ दिल्ली विश्वविद्यालय के वे प्राध्यापक आमंत्रित हुए थे जो संघ के स्वयंसेवक भी थे। प्रत्येक प्राध्यापक ने खड़े होकर अपना परिचय दिया था। कार्यक्रम के पश्चात् विजय जी झपटते हुए मेरे पास आये थे। शायद उन्होंने सुन रखा था कि कानपुर से आये त्रिपाठी नाम के स्वयंसेवक यहाँ विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग में नियुक्त हुए हैं। मैंने भी सुन रखा था कि विजय जी नाम के स्वयंसेवक छात्रनेता रहे हैं और अब वे अध्यापक नेता हैं मानो हम दोनों को एक-दूसरे की तलाश थी।

विजय जी से मेरा निरंतर सम्पर्क बना रहा। उन पर कोई आक्षेप होता था तो मैं समाचार-पत्रों में उत्तर छपाता था। मैं यह सब विशुद्ध राष्ट्रभक्ति से प्रेरित होकर कर रहा था। मैंने मुख्य कार्यकारी पार्षद से कुछ नहीं माँगा और उन्होंने भी मुझे आदर के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया।

पति और पुत्र के कल्याण के लिए व्रत और उपवास करती हुई हमारी महिलाएँ पूरे परिवार को त्यागमय पवित्र स्नेह-सूत्र में बाँधे रहती हैं। धीरे-धीरे ये प्रथाएँ समाप्त हो रही हैं, इनके साथ ही संबंधों की वह प्रगाढ़ता भी लुप्त हो रही है।

हँसराज जी के बँगले की बात उठी है तो एक और बात याद आ गयी। कानपुर के मेरे साथी डॉ. मिट्ठनलाल बंसल की नियुक्ति श्रीराम कॉलेज में हो गयी थी। वे मॉडल टाउन में मेरे पास ही रहते थे। वे संघ के अच्छे कार्यकर्ता थे। हम दोनों हंसराज जी के बँगले से निकलकर बस स्टॉप पर आये। बंसलजी रेशमी कुर्ता पहने थे और मैं खादी के कुर्ते में था।

तब से मैं बंसल जी के जीवन-काल तक विनोद करता आया, 'भाई, रेशमी कुर्ता मुझे भी उधार दे दो।' मैंने उनकी पत्नी तारा भाभी से भी कहा कि मुझे इनका रेशमी कुर्ता दिलवा दो। वे हँसकर बोलीं, 'रेशमी कुर्ता पहनकर भी आपकी शकल ऐसी नहीं होगी कि कोई माल वाला आपको घास डाले।'

बंसल परिवार ने मुझे उत्तर प्रदेश के संस्कारों का माहौल दे दिया था। बंसल जी यहाँ संघ-कार्य में पूर्णत: तल्लीन हो गये थे। यह तल्लीनता इनके स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हुई थी। इन्होंने मुझे भी राष्ट्रभक्ति के कुछ कार्यों में झोंकने की चेष्टा की थी। विश्वविद्यालय में ड्यूटा (दिल्ली विश्वविद्यालय शिक्षक संघ और ए.सी.तथा ई.सी. के चुनाव दो-दो वर्षों के पश्चात् हुआ करते थे।) बंसल जी मॉडल टाउन और टैगोर पार्क में रहने वाले सौ-डेढ़ सौ अध्यापकों की सूची मुझे सौंप दिया करते थे। कुटिल वामपंथियों के प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने के लिए मैं जी-जान से जुट जाता था। यहाँ काम करने के अतिरिक्त मैं इंद्रप्रस्थ कॉलेज जाकर अध्यापिकाओं से मिलता। डॉ. स्नेहलता श्रीवास्तव (जिज्जी), डॉ. उषा पाण्डेय, डॉ. आशा शिरोमणि, डॉ. सुषमा नारायण आदि बहिनों ने मुझे पूरा सहयोग दिया। मैंने जनसंघी विचारधारा के समर्थक अध्यापकों का एक वर्ग तैयार कर दिया था। लगभग 15 वर्षों तक मैं यह काम करता रहा। न मैंने अपने कैरियर का ध्यान रखा और न साहित्यिक स्थिति का।

थोड़ा सा भटक गया हूँ। मैं बात कर रहा था फरवरी, 1967 की। इसी मास साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित ओड़िया के ख्याति-प्राप्त साहित्यकार श्री सच्चित राउतराय से मेरा पत्र-परिचय हुआ। वे अपना उच्च स्तरीय ओड़िया त्रैमासिक 'दिगन्त' मेरे पास भेजने लगे थे। मैंने डॉ. सत्यपाल चुघ की कविता का ओड़िया अनुवाद उनके पास भेजा था। उन्होंने मेरे पत्र के साथ इसे ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया था।

'तास बिधान
तासरु खेलाकु
दूररु सलाम
ए युग मधि एथिरे
बादशाह, बेगम ओ गोलाम।'

इस अनुवाद के साथ राउतराय जी की टिप्पणी भी छपी थी, हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है— अनुवादक डॉ. रमानाथ त्रिपाठी एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के प्राध्यापक हैं। वे हिंदी के विशिष्ट लेखक हैं। उन्होंने यह कविता ओड़िया में अनूदित कर ओड़िया लिपि में लिखकर भेजी है। (संपादक, दिगन्त)

10 जून, 1967, जयपुर विश्वविद्यालय में रीडर के पद का साक्षात्कार था। हेम अजय के साथ इटावा चली गयी थीं। रमेश धामपुर से दिल्ली आ गये थे। मेरे दाँत में दर्द था। रमेश ने खिचड़ी राँधकर खिलायी। मैं जयपुर नहीं जाना चाहता था। रमेश मुझे ठेल ठालकर स्टेशन ले गये और अनारक्षित डिब्बे में चढ़ा आये। उन्होंने मुझे संघ-कार्यालय का पता दे दिया था। जयपुर में संघ के स्वयंसेवकों ने मेरा स्वागत किया। साक्षात्कार के लिए उरई से मेरे मित्र डॉ. जगदीश नारायण अग्रवाल भी आये हुए थे। रीडर पद पर किसी स्थानीय व्यक्ति की नियुक्ति हुई। यहाँ नियुक्त होने की मेरी इच्छा भी नहीं थी। अग्रवाल जी के साथ मैंने हवा महल आदि स्थान देखे। हेम के लिए बन्धानी साड़ियाँ खरीदीं। मेरे दाँत का दर्द बढ़ता जा रहा था। भाई जगदीश नारायण जी ने मुझे अनारक्षित डिब्बे में बिठा दिया। पगड़धारी राजस्थानी मेरे सहयात्री

थे। डिब्बे में एकाध ही प्रौढ़ा राजस्थानी महिलाएँ थीं। लगभग पूरी रात खड़े-खड़े बीती। दाँत के कारण मुँह पर सूजन आ गयी थी। मैंने जान-बूझकर इस यात्रा का वर्णन किया है। मेरे कली और धुआँ उपन्यास में नायक राजन सुनीता नामक सुंदरी के साथ यात्रा करता है। दोनों अकेले हैं, मेरे कुछ मित्रों ने कहा था, 'नायक आप हैं, यह आपकी प्रेयसी सुनीता कौन है?' सच में सुनीता एकदम काल्पनिक पात्र है। मैंने जयपुर की यात्रा द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में पगगड़धारी राजस्थानियों के साथ की। दाँत के दर्द के कारण परेशान रहा। कहाँ का रोमांस? हाँ, मैंने यात्रा के मध्य के स्टेशन आदि नोट कर लिये थे। कभी-कभी मेरे शब्द-चित्र यथार्थ चित्र का भ्रम दे जाते हैं। मुझे भय है कि मेरे 'कामरूपा' उपन्यास को पढ़कर भी पाठकों के मन में भ्रम की सृष्टि न हो जाए।

भ्रम मेरे छोटे भाई रमाकांत को भी हुआ था। उसने उपन्यास पढ़कर हेम को पत्र लिखा था, 'मेरी बहादुर रानू भाभी।' उस पागल ने समझा था, यह उपन्यास नहीं, उसकी भाभी की जीवन-कथा है। इसमें संदेह नहीं कि कुछ-कुछ बातों में कथा-नायिका रानू और हेम समान हैं। ससुराल का वर्णन भी कुछ-कुछ यथार्थ है। इसी से यह भ्रम हुआ। उपन्यास में एक गुण्डा रानू को घर में अकेला पाकर उसके साथ अन्याय करना चाहता है। रानू को घर में अकेला पाकर उसके साथ अन्याय करना चाहता है। रानू रिवाल्वर तानकर उसे चेतावनी देती है। गुण्डा समझता है कि यह नकली रिवाल्वर है। वह आगे बढ़ता है और रानू ट्रिगर दबा देती है। हेम रमाकांत का पत्र पढ़कर बिगड़ उठी थीं, 'तुम नायिकाओं का ऐसा चित्रण करते हो कि लोग मुझे नायिका के साथ मिलाकर देखते हैं। तुम्हारी नायिकाएँ जो भी ऊटपटांग काम करती हैं वे मेरे ऊपर थोप दिये जाते हैं।'

सच तो यह है कि हेम की कौन कहे उसके आर्यपुत्र ने भी कभी रिवाल्वर नहीं छुआ। यह औरत तो रिवाल्वर का घोड़ा दबाने के पहले ही बेहोश हो जाएगी। गनीमत है, यह महिला जैसे-जैसे वृद्धावस्था की ओर बढ़ती जाती है मेरे साहित्य की उपेक्षा करती जाती है। अब मैं निश्चित हूँ, यह मेरा लिखा पढ़ेगी ही नहीं। इसने मेरी आत्मकथा का प्रथम भाग 'वनफूल' भी नहीं पढ़ा है।

हाँ, मेरे इस उपन्यास में यदि कोई सत्य पात्र है तो वह है शिशु अजय। इसके माध्यम से मैंने बाल-मनोविज्ञान का सरस वर्णन किया है। इसकी 99 प्रतिशत आदतें कृति में समाविष्ट हैं। इसीलिए इस आत्मकथा में, मैं अजय-प्रसंगों को नहीं छू रहा हूँ, पुनरावृत्ति से बचने के लिए।

रेडियो पर रसखान पर कार्यक्रम आयोजित था। मैं तन्मय होकर सुन रहा था। हेम बार-बार चाय पीने के लिए बुला रही थीं। अत्यंत मधुर स्वर गूँज रहा था—

'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।'

मैं भी स्वर मिलाकर गा रहा था, 'नाच नचावैं।' हेम आकर तिक्त स्वर में बोली, 'मैं कब से बुला रही हूँ, चाय ठण्डी हो रही है।' रसखानि से तादात्म्य स्थापित कर मैं गा उठा—

'पायकें ऊँची बड़ी डिगरी जो बड़ी कच्छान में हिंदी पढ़ावै।

लेख लिखै कबिताऊ रचै अरु ढेर-सी सारी किताब छपावै।

तीनेउ सारेन की पतनीन सों चाव भरो जो सनेह लगावै।

ताहि या चाची की छोहरिया प्यलिया भर चाय पै नाच नचावै।'

तीनेउ सारेन=तीनों साले। चाची=हेम और इनके तीनों भाई अपनी माँ को चाची कहा करते थे।

आज हरछठ (हलषष्ठी) थी। हेम का आदेश हुआ, कहीं से काँस और झरबेरी के पौधे तथा ढाक का पत्ता लाने का। मैं साइकल चलाता मॉडल टाउन के

पीछे की ओर की खाली पड़ी ज़मीन से काँस ले आया। इधर झरबेरी कहीं भी दिखायी नहीं पड़ी। बेरी की ही एक टहनी काट लाया। पान की दुकान पर ढाक का पत्ता मिल गया।

हेम ने गीली मिट्टी का पिण्ड बनाकर उसमें पौधे गाड़ दिये। गाँव में अम्मां और भौजाई आँगन के बीच मे गड्ढा खोदकर ये पौधे आरोपित करती थीं। यह व्रत बेटे के नाम पर होता है। बैल भी गाय का बेटा है। इसलिए बैल द्वारा जोती भूमि में उत्पन्न कोई अन्न नहीं खाया जाता है। महिलाएँ प्राय: पसाई नामक जंगली धान का चावल खाया करती हैं, संस्कृत में इसे ही नीवार कहा करते होंगे। यह कसैला-सा होता है। मैंने हेम से बहुत कहा, केला, सेब आदि फल ग्रहण करने के लिए। इनके खेत बैल नहीं जोतते। इनके तो पौधे लगाये जाते हैं। हेम नहीं मानतीं, कौन जाने किसान ने बैलों से खेत जोतवाकर इन्हें पैदा किया हो। मेरे बहुत कहने पर वे मखाने की खीर बना लिया करती हैं, जिसमें चीनी या गुड़ के स्थान पर छुआरे डाला करती हैं।

पति और पुत्र के कल्याण के लिए व्रत और उपवास करती हुई हमारी महिलाएँ पूरे परिवार को त्यागमय पवित्र स्नेह-सूत्र में बाँधे रहती हैं। धीरे-धीरे ये प्रथाएँ समाप्त हो रही हैं, इनके साथ ही संबंधों की वह प्रगाढ़ता भी लुप्त हो रही है।

संपर्क : 26, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

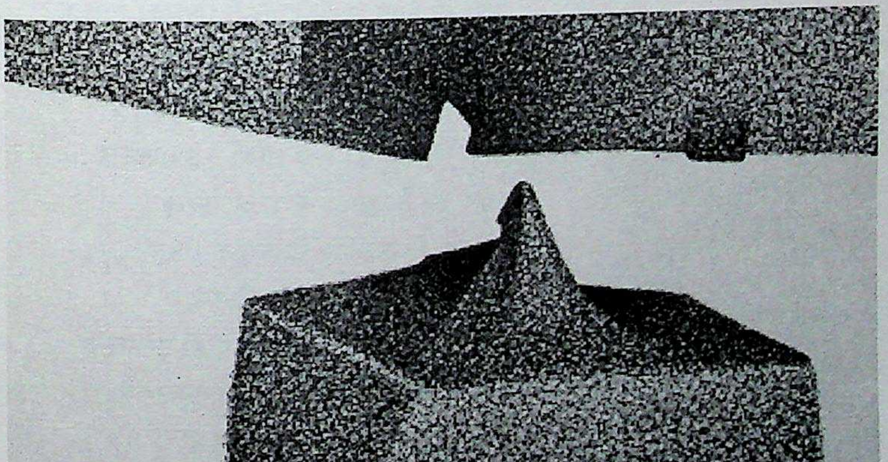

नेहा द्विवेदी

भ्रष्टाचार

चारों ओर देखिये ये कैसा भ्रष्टाचार है
सब यहाँ पर है भ्रष्ट क्या यही मानव संसार है?
ट्रेफिकों में होती देखो रोज़ मारा-मार है
यहाँ पर घूसखोरों की देखो कैसी भरमार है
पुलिस स्टेशनों में तो और बुरा हाल है
सौ सवा सौ रुपये में यहाँ गलती किसकी दाल है?
बीमारियों की आजकल फैली ये कैसी बहार है
चिकित्सकों की जेबों में नोटों का अंबार है
चुनाव में नेताओं की क्या लम्बी-सी कतार है
सब यहाँ पर है नेता ये कैसा व्यापार है
आज भारत में राजनीति सिर्फ़ एक धँधा है
क्या कहें यहाँ कानून भी तो अँधा है
यहाँ पर रोज़ गरीब मासूम निर्दोष ही हलाल है
यही तो भ्रष्टाचारियों की बुद्धि का कमाल है
मंदिरों में आजकल और बुरा हाल है
भगवान को मनाने को चढ़ता काला माल है
साम-दाम-दंड-भेद से वोट जो जुटाते हैं
जो स्कूल नहीं गये वो नेता संसद जाते हैं
हमारी मानवता का ये कैसा इतिहास है?
भू-लोक पर तो दानवों का वास है।

एक प्रार्थना

सोचते हैं हम ईश्वर कुछ ऐसा कर दे
ज़माने की हर ख़ुशी मेरे माता-पिता के नाम कर दे
जब दूर रहते हैं उनसे तो खालीपन-सा लगता है
उनकी हर फिक्र में मेरे लिए अपनापन-सा लगता है
मेरे भविष्य के लिए उन्होंने वर्तमान गवायाँ है
मेरी हर ग़लती के बाद उस गोद ने मुझे अपनाया है
जब कभी अचानक वक़्त-वे-वक़्त मेरा फोन बजता है
आवाज़ आती है 'गा' दो बेटा गाना सुनने का मन करता है
जिन्हें मैं हमेशा छोटी, नादान ना समझ लगती हूँ
हर बात में सोच में, विश्वास में, उनका गुरूर लगती हूँ।

आख़िर क्यों?

चाहा था जिन्हें चाहत से अपना समझकर
उन्होंने हमें भुला दिया इक सपना समझकर
हम सोचते थे हमें मिलेगी जन्नत वहाँ
वो मुँह फेर चल दिए हमें बेग़ाना समझकर
इक रात बरसी थी चाँदनी जब ज़मीं पर
उन्होंने भुला दिया हमें ओस की बूँद समझकर
समझाना चाहा उन्हें मोहब्बत-ए-असर
मुस्कुरा दिए वो हमें नादाँ समझकर
क्या है असर मोहब्बत का मोहब्बत करने वालों पर
उम्र गुज़र जाती है जीने में इस पहेली को ज़िंदगी समझकर।

संपर्क : 6/16, गाजीखेड़ा, ऋषिनगर, उन्नाव (उ.प्र.)
मो. 09589979878

डॉ. रामविनय शर्मा

स्वप्न एवं यथार्थ का महाआख्यान

सुपरिचित कथाकार मिथिलेश्वर का आत्मकथात्मक उपन्यास 'पानी बीच मीन पियासी' हमारे समय और समाज का जीवंत अभिलेख है। विदित है कि मिथिलेश्वर ने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से पाठकों के बीच जो जगह बनाई है उसके पीछे उनकी गतिशील यथार्थ दृष्टि, अनुभव सम्पन्नता और जनोन्मुख भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका है। उनकी अधिकांश रचनाएँ ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित हैं और उनमें गाँव के प्रति स्वाभाविक लगाव भी परिलक्षित होता है, फिर भी मिथिलेश्वर ने अपनी रचनाशीलता को रोमानीपन से बचाते हुए आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है। इससे साहित्य के अध्येताओं को जीवन की वास्तविकता से परिचित होने का अवसर मिलता है और उनकी रुचि भी विकसित एवं परिष्कृत होती जाती है।

गाँव की धरती पर आँख-खोलने वाले मिथिलेश्वर के कथा-साहित्य में ग्रामीण जीवन के प्रति मुग्धता के स्थान पर रागात्मकता तथा उसके यथार्थ को संवेदना के धरातल पर उजागर करने की बेचैनी झलकती है। उनकी रचनाओं में प्रारंभ से अंत तक विसंगतियों के विरुद्ध न केवल गहरा आक्रोश, बल्कि मानवीय

'गाँवों में तब भी ईर्ष्याजनित द्वेष का माहौल कायम था और आज तो अपने चरम रूप में है। पच्चीस प्रतिशत लड़ाई-झगड़े इस ईर्ष्याजनित द्वेष की ही परिणति हैं। एक बंद परिवेश में एक जैसा जीवन जीने वाले कृषक समाज को जब लगता है कि उनके बीच का कोई उनसे अच्छा खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने और आगे बढ़ने लगा तो उसके पाँव खींचना आवश्यक समझते हैं, उस पर भी तब और जब वह व्यक्ति जातिगत धरातल पर उस गाँव का अल्पसंख्यक हो।'

पुस्तक : 'पानी बीच मीन पियासी' (आत्मकथात्मक उपन्यास) : मिथिलेश्वर
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : 480/-, पृष्ठ : 515

समाज के निर्माण की चिंता दिखाई देती है। 'पानी बीच मीन पियासी' के संदर्भ में भी यह बात पूरी तरह लागू होती है जिसमें उन्होंने कथा को कल्पना से दूर रखते हुए वास्तविक जीवन के अनुभवों एवं स्थितियों से इस प्रकार बुना है कि यह रचना पाठक के मन पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह पाती। मिथिलेश्वर की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे विचार को अनावश्यक उत्तेजना से बचाते हुए उसे रचना प्रक्रिया का इस प्रकार अभिन्न अंग बना देते हैं कि वह न तो आरोपित लगता है और न ही बनावटी। हाँ, इससे रचना अवश्य प्रभावशाली बन जाती है। इस आत्मकथात्मक उपन्यास में मिथिलेश्वर ने जिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं का स्पर्श किया है उनमें जाति आधारित विद्वेष एवं वर्चस्व, अल्पसंख्यक जातियों के प्रति अधिसंख्यक जातियों की मनमानी, खेती-किसानी के सामने उपस्थित होने वाली समस्याएँ, स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव की मनोवृत्ति, अशिक्षा, बेरोजगारी और रुढ़िवादी संकीर्ण मानसिकता जैसे प्रश्न उल्लेखनीय हैं।

मिथिलेश्वर ने इस रचना में विस्तार से उल्लेख किया है कि ग्रामीण समाज में जिस स्थान पर किसी जाति विशेष की बहुतायत होती है वहाँ उसी का वर्चस्व होता है और वह जाति कम संख्या वाली जातियों पर दबाव की राजनीति करती है। ग्रामीण समाज के बारे में मिथिलेश्वर के इस स्वीकार में सत्यांश है किंतु अगर इसे इस तरह कहा जाए कि वर्चस्व का संबंध राजनीतिक-आर्थिक शक्ति से गहरे जुड़ा होता है, केवल संख्या बल किसी जाति को वर्चस्वशाली नहीं बनाता, कि संख्या बल का राजनीतिक शक्ति में रूपान्तरण ही उस जाति विशेष को प्रभुत्वशाली बनाता है, तो यह अधिक तर्कसंगत कहा जाएगा। मिथिलेश्वर का लेखन ग्राम जीवन पर आधारित है किंतु वे गाँव एवं शहर के बीच एक सेतु बनाने का निरंतर प्रयास करते हैं। वे ग्रामीण समाज में व्याप्त विकृतियों की आलोचना करते हैं, और उनका अतिक्रमण करने का प्रयास भी। युवावस्था की दहलीज पर पैर रखते ही विवाह के बंधन में बँध जाना, घर में नवविवाहिता पत्नी की रोमांचक किंतु सुखमय उपस्थिति के बीच घर-गृहस्थी के दायित्व का निर्वहन और साथ ही पत्नी के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध को लेकर सामाजिक रुढ़ियों एवं मान्यताओं की अनदेखी जैसे प्रसंग इस आत्मकथात्मक उपन्यास को रोचकता तथा गति प्रदान करते हैं। मिथिलेश्वर को कथाकार बनाने में प्रेमचंद की रचनाओं के साथ उनकी माँ की लोककथाओं की विशेष भूमिका रही है। भावनाओं एवं विचारों को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा उन्हें इन्हीं से मिली। इसके अतिरिक्त पिता के मेधासम्पन्न व्यक्तित्व ने भी उन्हें प्रभावित किया। तभी तो उन्होंने इतनी आत्मीयता तथा कृतज्ञता के साथ स्मरण किया है-

'लेकिन प्रो. बी.लाल ने पूरे समाचार पत्र को कामा, फुलस्टॉप के साथ अक्षरशः व्यक्त कर दिया कि मात्र विलक्षण स्मरण शक्ति के ही वे धनी नहीं, तेजस्वी प्राध्यापक, मौलिक चिंतक और प्रखर आलोचक भी हैं।' (पृष्ठ-43)

'दूसरे विषय के शिक्षक को दूसरे विषय का क्लास दिया गया, ऐसे हैं प्रो. बी.लाल। कि वे ऑल राउण्डर हैं। कि साहित्य, विज्ञान, दर्शन किसी भी विषय पर उन्हें छोड़कर देखिए, आपके सारे प्रश्नों का बना-बनाया जवाब उनकी जिह्वा पर मिलेगा।' (पृष्ठ-44)

कहना न होगा कि मिथिलेश्वर की अधिकांश रचनाओं का उपजातीय ग्रामीण परिवेश ही है। उनके पिता का अपने गाँव, खेत-खलिहान और वहाँ के परिवेश से अटूट संबंध जीवन-पर्यंत बना रहा, फिर भी ग्रामीण समाज के प्रति मिथिलेश्वर के दृष्टिकोण में वायवीयता नहीं दिखाई देती। उन्होंने लिखा है कि, 'गाँवों में तब भी ईर्ष्याजनित द्वेष का माहौल कायम

था और आज तो अपने चरम रूप में है। पच्चीस प्रतिशत लड़ाई-झगड़े इस ईर्ष्याजनित द्वेष की ही परिणति हैं। एक बंद परिवेश में एक जैसा जीवन जीने वाले कृषक समाज को जब लगता है कि उनके बीच का कोई उनसे अच्छा खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने और आगे बढ़ने लगा तो उसके पाँव खींचना आवश्यक समझते हैं, उस पर भी तब और जब वह व्यक्ति जातिगत धरातल पर उस गाँव का अल्पसंख्यक हो।' (पृष्ठ-62) यह उद्धरण कथाकार मिथिलेश्वर की सामाजिक गति की समझ को जानने के लिए पर्याप्त है। यही कारण है कि उनकी कथाकृतियों में समाज का गतिशील यथार्थ प्रामाणिक रूप में अभिव्यक्त हो पाता है। 'पानी बीच मीन पियासी' का यह अंश उल्लेखनीय है कि, 'आज भी हमारे गाँवों का वह यथार्थ नहीं बदला है। आज भी गाँवों में वही परिवार अपने को सुरक्षित रखते हुए टिक पाता है जो गाँव की मनुष्य जाति का हो। साथ ही पारिवारिक स्तर पर दबंग और सवंगगर भी हो। गांवों की बात तो अलग है। शहरों में भी इस स्थिति का मैं विस्तार देख पाता हूँ।' (पृष्ठ-66) भारतीय सामाजिक संरचना का यही यथार्थ है जिसे राजनीति ने और अधिक विकृत कर दिया है। इस रचना से गुजरते हुए कथाकार मिथिलेश्वर की अल्पसंख्यक जाति का होने की पीड़ा बार-बार उजागर हुई है। इसे एक व्यापक सामाजिक सत्य के रूप में देखा जाना चाहिए तभी हम समाज में हाशिए पर पड़ी जातियों की वेदना को महसूस कर सकते हैं।

मिथिलेश्वर की इस आत्मकथात्मक कृति में उनकी अल्प आयु की स्मृतियों को पुनर्रचित होते देखकर आश्चर्य होता है। इससे यह संकेत तो अवश्य मिलता है कि कथाकार वर्तमान के साथ-साथ अपने अतीत से गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है। अतीत की इन स्मृतियों का एक बड़ा हिस्सा उनकी माँ के स्नेह, पारिवारिक दायित्व को निभाने की उनकी सामर्थ्य एवं संतान के पालन-पोषण में आने वाली कठिनाइयों के बीच उनके अदम्य साहस एवं आशावाद से सम्बद्ध है जिसमें उज्जवल भविष्य के लिए प्रेरणा एवं उत्साह का भाव निहित है। मिथिलेश्वर ने अपने पारिवारिक जीवन प्रसंगों के क्रमों में ग्रामीण जीवन की सामंती सोच एवं व्यवस्था तथा स्त्रियों की सामाजिक दशा पर गहरी दृष्टि डाली है। समाज की विकृतियाँ उन्हें व्यथित करती हैं और तब वे अपने निजी जीवन में उन वर्जनाओं के तिरस्कार का निर्णय लेते हैं जो स्त्री-पुरुष में भेदभाव को प्रश्रय देती हैं, स्त्री की अधीनस्थता को न्यायोचित ठहराती हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने लोकप्रिय लोक कलाकार भिखारी ठाकुर के 'बेटी बेचवा' गीत का उल्लेख किया है जिसके कथ्य की चुभन आज भी महसूस की जा सकती है। मिथिलेश्वर ने अध्ययन एवं लेखन की प्रक्रिया से निःसृत होने वाले आंतरिक सुख को घनीभूत नशा के रूप में याद किया है। प्रेम और साहित्य-सृजन के अंतर्सम्बन्ध की खोज करते हुए उन्होंने लिखा है कि, 'प्रेम की दृष्टि से मेरा प्रारंभिक जीवन बंजर ही रहा। शायद यही वजह है कि जिस उम्र में लोग अपनी शुरूआत कविताओं से करते हैं, मैंने कहानी और उपन्यास से की।' (पृष्ठ-150) प्रेम का कविता के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, ऐसा कहना अनुचित नहीं है। साहित्य जगत में इसके अनेक उदाहरण मिल जाएँगे किंतु बिना प्रेम के कविता लिखी ही नहीं जा सकती, यह कहना कठिन जरूर लगता है। मिथिलेश्वर ने प्रेम से बंजर जीवन को तब उर्वर बनाया जब रेणु पत्नी बनकर उनके घर में आईं। अन्तःकरण की समस्त प्रेम भावना को रेणु के आँचल में उड़ेलते हुए कथाकार उस भूमि को सींचने का प्रयास करता है जो किशोरावस्था में उपयुक्त अवसर के अभाव में शुष्क हो गई थी। पत्नी के साथ प्रेम-भावना को मिथिलेश्वर ने विस्तार के साथ वर्णित किया है हालाँकि गाँव के विकास विरोधी, घोर अंधविश्वासी एवं जड़

वातावरण में कुरीतियों को अस्वीकार करते हुए उन्होंने साहस और संयम का परिचय दिया है। जिस माँ की लोककथाओं ने कथानायक के मन में सृजन के बीज बोए थे उसी ने यह भी कहा कि, 'मउग जैसा दिन में पत्नी के पास न रह।' (पृष्ठ-185) किंतु कथानायक ने परेशान करने वाली रस्मों तथा निरर्थक रुकावटों को किनारे करते हुए प्रेम के पथ पर निरंतर चलते रहने की ठान ली। 'मेहरसी', 'घर घुसना', 'कामी पुरुष' तथा 'जोरु का गुलाम' जैसे लोक प्रचलित विशेषणों के प्रहार से अविचल रहते हुए कथानायक मन के अनुकूल पत्नी के प्रेम में डूब जाता है-'रेणु से मिलने की दूसरी रात के बाद अब मैंने तय कर लिया कि उसके साथ मुझे ज्यादा से ज्यादा समय बिताना है। संयोग से प्राप्त इस अवसर को गँवाना नहीं। वह सिर्फ़ मेरी पत्नी भर नहीं, नारी रत्न है। उसके साथ सिर्फ दो रातों के सम्पर्क ने स्त्री प्रेम के जिस दिव्य रूप से मेरे अंदर एक नयी चेतना का संचार कर दिया था वह मेरे अब तक के जीवनानुभवों पर भारी पड़ रहा था। अब मैं उसके पास बेरोक-टोक आने-जाने लगा।' (पृष्ठ-201) पत्नी के साथ अंतरंग क्षणों की विशद किंतु मर्यादित अभिव्यक्ति उत्तेजना नहीं पैदा करती बल्कि उससे मनुष्य की सहज मानवीय इच्छा का ही आभास मिलता है। हाँ, यह जरूर है कि किशोरावस्था एवं युवावस्था की संधि पर खड़े कथानायक को प्रेम एवं सौंदर्य के प्रति जो आवेग उस समय अपने प्रवाह में बहा ले जाता है, ढलती हुई उम्र में वैसा ही आवेग बना नहीं रह पाता। अनुभव से प्राप्त बोध व्यतीत हो चुके कतिपय विचारों, इच्छाओं एवं क्रियाओं पर प्रश्नचिह्न खड़े कर देता है।

प्रस्तुत रचना में कथाकार ने गाँव एवं स्वयं अपने परिवार की जीवन स्थितियों अर्थात् आर्थिक अभाव, जीवन-यापन की असुविधाओं, स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी, बेरोजगारी जैसी आक्रान्त कर देने वाली समस्याओं को एक-एक कर रेखांकित किया है। इसी क्रम में लेखन की शुरूआत, रचनाओं के प्रकाशन से मिल रही पहिचान तथा आत्मविश्वास के सहारे कथानायक साहित्य एवं जीवन के संयुक्त मोर्चे से जूझता हुआ दिखाई देता है। उसे ऐसा लगता है कि, 'साहित्य के आधार पर लोग मेरी सराहना कर देंगे, लेकिन वह नियुक्ति का आधार नहीं हो सकता।' (पृष्ठ-481) हिन्दी के अकादमिक संसार की यही सच्चाई है जहाँ अनेक समर्थ रचनाकारों-आलोचकों को विश्वविद्यालयों में घुसने नहीं दिया गया। इसका कारण है समस्त कुत्सित वादों से ग्रस्त संकीर्ण, चापलूसी पसन्द, असंवेदनशील व्यक्तियों एवं उनके समूहों का विभिन्न संस्थाओं पर कब्जा। अपनी विरासत को वे जड़वाद ग्रस्त हाथों में सौंपने के लिए विवश एवं अभिशप्त दिखाई देते हैं। इसीलिए इन्हें स्वतंत्र-विवेकी-सृजनशील व्यक्ति अपना शत्रु जैसा प्रतीत होता है। अनेक रचनाओं के प्रकाशन से अपनी पहिचान बना चुके मिथिलेश्वर को भी प्राध्यापक बनने की प्रक्रिया में अप्रिय अनुभवों से गुजरना पड़ा। पिता के असामयिक निधन के पश्चात अभिभावक की भूमिका का निर्वाह, गंभीरता से पढ़ाई न कर पाने की टीस, कम उम्र में शादी और शहर में रहने का उतावलापन अथवा विवशता कथानायक को जीवन की ढलान पर व्यर्थ, अनावश्यक एवं विवेकहीन निर्णय के रूप में दिखाई देने लगते हैं। मिथिलेश्वर ने यह भी स्वीकार किया है कि प्रारम्भिक दिनों में लेखन के प्रति आत्ममुग्धता ने उनकी संघर्ष क्षमता को आघात पहुंचाया। जीवन के अनेक त्रासद क्षण उन्हें आज भी व्यथित करते हैं। वे अतीत को बिना चूक किए फिर से जीने की इच्छा व्यक्त करते हैं लेकिन क्या ऐसा सम्भव हो पाता है? वर्तमान तो हमसे सम्भाला नहीं जाता, भविष्य कल्पना के आवरण में सिमटकर बैठा है। ऐसे में यही कहा जा सकता है कि, 'जो समय गुजर चुका अब दुबारा उसे नहीं पाया जा सकता।' (पृष्ठ-510) व्यतीत हो चुके समय में इच्छित को

प्राप्त न कर पाने की कसक हो अथवा समय की गति को समझ पाने की असमर्थता, कथानायक के मन की वही प्यास इस आत्मकथात्मक उपन्यास में स्वीकारोक्ति के रूप में व्यक्त हुई है।

कथाकार मिथिलेश्वर की रचना से गुजरते हुए ऐसा विश्वास होता है कि उन्होंने कहीं भी स्वयं को छिपाने अथवा अनावश्यक रूप से दिखाने का प्रयास नहीं किया है। दूसरे शब्दों में यह रचना आत्मप्रदर्शन, आत्मश्लाघा तथा स्वयं को महिमामण्डित करने की कुप्रवृत्ति से मुक्त है। जीवन में अर्जित अनुभवों तथा सामने खड़ी चुनौतियों से लड़ते-भिड़ते उन्होंने जिस भाषा एवं विचार को पाया, उसका इस रचना में भरपूर उपयोग किया है। मिथिलेश्वर की यह कृति सपनों के टूटने-बिखरने की ही गाथा नहीं है बल्कि यह उन जीवन मूल्यों का संधान करती है। जिनका विषम परिस्थितियों में रचनात्मक उपयोग किया जा सकता है। यह रचना मिथिलेश्वर की अन्य कृतियों की तरह स्वस्थ मानवीय मूल्यों को प्रस्थापित करती है। उनकी भाषा में निहित सरलता, स्निग्धता, सवंदेनशीलता और प्रवाह किसी से छिपा नहीं है। ऐसे समय में, जब अधिकांश आत्मकथाएँ स्वयं को अद्धितीय बताने और सामान्य पाठक वर्ग की सहानुभूति बटोरने का माध्यम बनकर रह जाती हैं, मिथिलेश्वर का यह रचनात्मक प्रयास एक सामान्य मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा-आकांक्षाओं की सरलतम अभिव्यक्ति ही कहा जा सकता है। कहना न होगा कि परम्परा एवं प्रगति के बीच सामंजस्य बिठाता यह आत्मकथात्मक उपन्यास अपनी प्रकृति में तार्किक तथा प्रभाव में प्रेरक बनकर पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है।

संपर्क : रीडर, हिन्दी विभाग, महाराज सिंह कालेज,
सहारनपुर-247001 (उ.प्र.) मो.-94110 38585

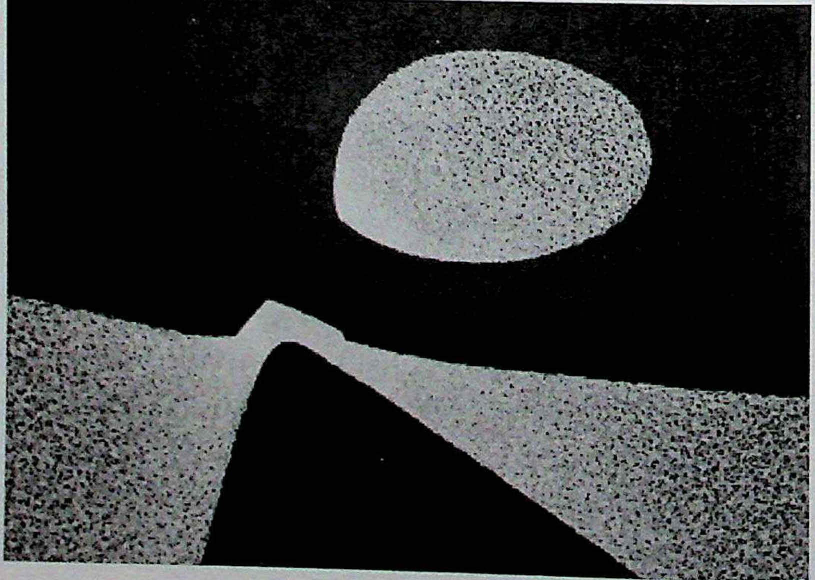

डॉ. सुरेश गौतम

गीत के बहाने... 'और सोच में तुम...'

समीक्षा के बंधे-बंधाये चौखटों से अलग 'और सोच में तुम....' के बहाने मैं गीत को एक बार पुनः समझने की जद्दोजहद में लगा हूँ। गीत को समझने की प्रक्रिया से गुजरते हुए मुझे कई बार लगता है कि चींटी पर हाथी का हौदा कसना आसान है गीत को समझना मुश्किल। मैं जितनी बार गीतकारों की अंतर्मेधा और ध्वनि लयों से गुजरा हूँ उतनी बार मुझे नयी अर्थ व्यंजनाओं से दो-चार होते हुए गीत के नये क्षितिज दिखाई दिए हैं, फिर भी मैं यह दावा करने की स्थिति में नहीं हूँ कि मैंने गीत को पूरी तरह समझ लिया है।

गीत मनुष्य का बीज मंत्र तो है ही, वह मानस तितलियां हैं जो हृदयगत भावतंत्र को लयसिद्ध कर उसे बुद्धि से जोड़ता है। निषेधात्मक, गद्यात्मक, रूक्ष नयी कविता, अकविता वह भौंथरा हथियार है जिसका कुशलता से इस्तेमाल कर गीत लिखने में असमर्थ तथाकथित वादाश्रित कवि साहित्यिक राजनीति करते हैं। साहित्यिक माफिया डान ये कला मर्मज्ञ 'सिंह इज़ किंग' की तरह साहित्यिक राजनीति के कुशल गोताखोर हैं, लेकिन इनकी डोर किसी और हाथ में होती है। भाव-संस्कृति और विचार वैभव के रक्षक गीत-भूगोल को समझना इनके लिए बहुत कठिन है।

काल की द्रवधारी इस सुलगती चेतना को साधना राम के अनुसरण की तरह कठिन है और इसकी वर्णमाला को समझना कृष्ण को समझने की तरह मुश्किल। संश्लिष्टता और समग्रता में राम और कृष्ण जीवन की परिपूर्णता है। जीवन की तरह कृष्ण एक प्रश्न हैं और राम पूर्णविराम। हम यदि वैदेही और अर्जुन की तरह कर्मशील होंगे तो हमें राम भी मिलेंगे और कृष्ण भी। गीत-बाँसुरी के लिए लक्ष्य संधान तो करना ही पड़ेगा। कविता और गीत में हालांकि गहरी आंतरिक समानता है, सृजन-समस्याओं की चिंता और चुनौतियां भी एक जैसी ही हैं लेकिन जैसे समुद्र लांघने की कोशिश में हर नदी उसमें समा जाती है, उसी प्रकार हर कविता (यदि वह कविता है) अन्ततः गीत में समा जाती है।

पुस्तक : 'और सोच में तुम' (गीत-संग्रह) : नरेन्द्र दीपक
प्रकाशक : इन्द्रजीत प्रकाशन, 4-पारिका फ़ेज-2, चूना भट्टी, कोलार रोड, भोपाल-462016, मूल्य : 300/-

जीवन का तरल कुंभ है गीत। जिसे गीत मिल जाए समझो उसे माधव मिल गया। माधव अनुभूति हर पल सजग-सतर्क रहती है। यही प्रेम और कर्म की उपनिषद् संपदा है। नरेन्द्र दीपक के अनेक गीतों में यही माधव-अनुकृति है। इसीलिए 'प्राणों की दहक' (पृ.-9) से वे 'नया गीत लिखने' का संकल्प लेकर 'अलग-अलग दिखने' (पृ.-11) को दृढ़ प्रतिज्ञ लगते हैं। आदमी में शक्ति की कमी नहीं होती संकल्प की कमी होती है। 'दर्द का अनुवाद कर', 'धार-धार बहने' (पृ.-13) की परिणति तो माधव अनुभूति ही है। माधव अनुभूतियों को जीते हुए भी 'जीवन को परिभाषित न कर सकने का दुःख' 'और सोच में तुम' (पृ.-111,112) की सूर्य गत्यात्मकता से बड़ा कोई सत्य नहीं है। सुबह को पाने के लिए रात का सफ़र तो तय करना ही पड़ता है। सृष्टि की यही कर्म-गति और जीवन का सातत्य है। गतिशीलता के कारण ही सूर्य वंदनीय है। इस अक्षत चिंतन का बार-बार खनन कवि को उन सत्यों से जोड़ता है जो मनुष्य और मनुष्यत्व का बीज दर्शन है। वह मधुमक्खी की तरह बूँद-बूँद रस इक्ट्ठा कर मधुछत्र बनता है। इस प्रक्रिया में कितनी भटकन, कितने खतरें हैं, नीड़-निर्माण का कितना दर्द है, इसे कवि की नीड़ चेतना चषक की तरह खींचती है जैसे समुद्र की छाती से आकाश खारेपन को खींचकर मीठा होकर बरसता है ठीक उसी प्रकार जीवन के सामुद्रिक नमक को पीकर वह धाराधार बरसता है। नमक-मिठास के इस घुलनशील कलश-दर्शन में 'मैं-तुम' की 'क्रोंच-मिथुन' व्यथा है। इन व्यथा-बिंबों में नरेन्द्र दीपक के आँसूओं का वक्तव्य इसी लक्ष्यार्थ की पावस व्यंजना है, जिसकी तरल अग्नि गीली लकड़ी सी सुलगती हमारी धमनियों में दौड़ने लगती है-

'सुख से इन नालायक मन की/ जनम जनम से तनातनी है,

आँसू की चर्चा में अक्सर/ मेरी कथा कही जाती है...।' (पृ. 25)

'कौन किसी से पूछे किसका कितना घायल मन

आज दर्द से बोझिल हैं जब धरती और गगन।' (पृ. 27)

आँसू के घर जन्मा था मैं/ आँसू के घर होश सम्भाला।' (पृ. 47)

'दो अश्रु तुम्हारी पलकों से, चुनने की ऐसी भूल हुई,

दुनिया की सभी जलन आकर, मेरे अधरों पर बैठ गई।' (पृ. 69)

कितना सुख मिलता आँसू के अनुवादों में...।' (पृ. 89)

दुःख-निराशाएँ अपनी जगह हैं, लेकिन अँधेरों के बीच जुगुनुओं को अपने अंदर समाने की इच्छाशक्ति संकल्पवती होकर यातना-सुरंगों को पार करती जाती है जो मनुष्य को अस्थिरचित्त और यौद्धा बनने से रोकती है। तमस-गर्भ को फाड़कर जन्मे ऐसे बिम्ब कवि की जुझारू शक्ति है। बकौल कवि 'मिटने और संवरने का ही नाम अरे जीवन' (पृ. 28)। 'अनमना सा पथ पर हर इक चरण/ जन्म पर हावी हुआ जाता मरण' (पृ. 29)। इन कठोर स्थितियों के बीच कवि मीनार सा उठता है। वह घोषणा करता है-

'सिर्फ उन्हीं का साथी हूँ मैं/ जिनकी उम्र सिसकते गुज़री

इसीलिए बस अंधियारे से/ मेरी बहुत दोस्ती गहरी।' (पृ. 24)

'मंज़िल पाने की तलाश में/ पथ पर सभी चरण चलते हैं,

जिनका लक्ष्य कर्म ही केवल/ ऐसे कुछ बिरले मिलते हैं।' (पृ. 36)

हमारी वाणी और कर्म का आधार है हमारे विचार। जीवन अस्तित्व से अधिक कर्म है। गीत की मधुमती भूमिका में मनुष्य का सम्पूर्णत्व सूर्य की तरह गतिशील है। विचार और कर्म, चिंतन और भाव, बुद्धि और हृदय, संघर्ष और जिजीविषा निरंतर नयी-नयी भूमिकाओं में आकर शरीर और मन का कचरा साफ करते रहते हैं और इसके हटते ही मानव के व्यक्तित्व में निखार आ जाता

है। 'दर्द भरा है जब नस-नस में,/ खुशियों को मैं कैसे गाऊँ' (पृ. 77)। 'मरघट में कोयल कूके, तब समझेंगे सावन आया' (पृ. 95)-यह 'व्यक्तित्व निखार' है। अपने से बाहर निकलने की कोशिश है। यह समुद्र छटपटाहट है। इस छटपटाहट रस में सृजन की प्रसव वेदना है। अग्नि ताप और तरल गुंजन एक साथ-

'ऐसा कुछ तो करो कि फिर वासंती हवा चले
हर आंगन उजियारा हो हर देहरी दिया जले..।'(पृ. 61)

विचारों की स्वतंत्रता ही दुनिया की सबसे बड़ी आशा है। यही कवि का काव्य-साक्ष्य है। 'स्व' से 'सर्वत्र' की संस्कृति ही कवि को नदी से समुद्र बनाती है। नदी की मिठास के साथ सामुद्रिक खारापन उसे उन आन्तरिक-बाह्य मनुष्य-यातनाओं से जोड़ता है, जो जीवन के अंधेरों-उजालों का वृत्त बनाती है। आज पूरा आदमी खोजने से भी नहीं मिलता। फिर भी कवि न हारता है और न मनुष्य को हारने देना चाहता है। निर्माण की भूमिका यहीं से शुरू होती है-

'फिर चढ़ेगी दोस्तो बदनामियाँ सिर
साफ़ कहने पर उतारू हो गया हूँ...
घिरे रहना भी भला क्या ज़िंदगी है?
आज बहने पर उतारू हो गया हूँ...' (पृ. 41-42)

'एक सरल मुस्कान बहुत काफ़ी है
हर गलियारा वृन्दावन करने को।' (पृ. 43)

एक-दूसरे से मनुष्य का नाता कभी नहीं टूट सकता। कर्म भावनात्मकता से इस दर्शन से प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। जुड़ाव की इन अंत:प्रतीतियों में जीते हुए ही मनुष्य अर्धनारीश्वर भी होता है और निस्संग अंतरंगता के साथ आत्मीय रिश्तों में घोलता-घुलता एक से अनेक हो जाता है, व्यक्ति स्तर पर भी और सामाजिक स्तर पर भी। जीवन का छौना सत्य भी यही है, सृष्टि-संसृति भी यही है। प्रणय-व्याकरण की सिद्धावस्था के अनेक बिंब भी कवि की प्राण-चेतना से फूटे हैं। 'विरल मिलन की पहिली सीढ़ी/ मनको यह कैसे समझाऊँ?' (पृ. 78) यही प्रेम की जागृत अवस्था है। इन विद्युत स्फोट बिंबों में खनकन-लचकन है। प्रकृति के उत्तेजक उद्दीपन कोण हैं, रसीली, लजीली, कसीली कसमसाहट तो है ही। 'उपसर्ग' और 'प्रत्यय' से शुरू इस संधान में हम सभी नायक हैं-

'तुझे भुलाने की कोशिश में/ सारी उमर ढली जाती है
और पवन के तन से अब तो/ तेरी गंध मुझे आती है।' (पृ. 46)

'गीतों में गाने को यूँ तो, बहुत विषय हैं लेकिन फिर भी,
तुम पर छंद बांधना मन को, जाने क्यों ज़्यादा भाता है।' (पृ. 75)

'श्यामा री,
तुझको सोचा भर मैंने
मन, बसंत हो गया...।' (पृ. 103)

हम सभी प्रकाशवान गीत हैं, मिट्टी के ऐसे दीये जिनमें 'ज्योति' झिलमिलाती है। मिट्टी पृथ्वी है और ज्योति आकाश। पृथ्वी-आकाश के बीच हमारी प्राण-चेतना की अंतर-ध्वनियाँ हमें जीवन और संघर्ष की मूल धुरी से जोड़े रखती है। जीवट और जिजीविषा के इन गीत मंत्रों को हर व्यक्ति, कभी न कभी जरूर जीता है। आदिम अनुभव से सांस्कृतिक अनुभव तक की इस प्रकाश यात्रा के जादुई अक्स बिखेरता नरेन्द्र दीपक का गीत संसार हमारे हर चेतन कार्य में अपनी अनुपस्थिति या उपस्थिति के साथ झिलमिलाता है। हम अपनी सत्ता, अस्मिता का प्रदर्शन रोशनी से ही करते हैं। हर दुख और आपदा को काटने का हमारा अंतिम हथियार यही गीत रोशनी है। हम इससे प्राण पाते हैं। गीत के इन अग्नि मंत्रों में ज़िंदगी की आस है। हम सभी की स्मृतियों में गीतों के कुछ ऐसे क्षण, गुनगुनाहट के कुछ ऐसे पल जरूर होंगे जो हमारे भीतर जमा होती कालिख को बुहारते होंगे। जब हम माटी के दीये में नन्हीं सी बाती जलाते हैं,

या मोम की नाजुक छड़ियों को पिघलते देखते हैं वही वस्तुतः इंसानियत को कायम रखने का संघर्ष और गीत को समझने की जद्दोजहद है, जिसमें हम जाने-अनजाने शरीक रहते हैं और व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण कर संस्कृति की सामूहिकता से खुद को जोड़ लेते हैं। गीत का यही संस्कार है और यह संस्कार भारत की मिट्टी के कण-कण में समाया है, जिससे कोई अधूरा नहीं रह सकता। साहित्यिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए भी कोई न कोई 'अन्ना हजारे' जरूर अवतरित होगा और गीत की समरसता का संविधान लिखा जाएगा।

अत्याधुनिक टेक्नोलॉजी, साइंस, ग्लोबलाइजेशन की थ्योरी, इलैक्ट्रोनिक मीडिया, शोर मचाते म्युजिक, टू-थ्री जी मोबाइल संस्कृति, महाविस्फोटक सूचना तंत्र, खूंखार विज्ञापन आदि के बावजूद इस आदिम राग को नये-नये रूपों में सुनना-गुनना हमारी विवशता है। तमाम वैज्ञानिक उन्नति-प्रगति के शिखामुखी नर्तन के बाद भी हमें 'माँ' चाहिए। बहन, बेटी, पत्नी, प्रेमिका चाहिए। कोमल रिश्तों से कोई वंचित नहीं होना चाहता। किसी भी रूप में इनकी रक्षा मनुष्यत्व भाव की रक्षा है। मक्की की दानेदार हंसी, कच्चा गेहूँ का रस तो दूसरी ओर मांडु में रूपमती का सौंदर्य, नारी का नीर तत्व जीवन में, सभी कुछ चाहिए। नारी गीत है, गति है, जीवन की परिभाषा, अंतर्विरोधों का चमत्कार है। गीत सोमतत्व है जो हमें जिंदा रखता है, जीवन को जीने लायक बनाता है। सृजन-संहार के आदि गान की प्रथम पंक्ति हम ही हैं। यही गीत का लास्य विवर्त्तन है और तीसरा नेत्र भी। इस गुंजन नृत्य का एक कोण है नरेन्द्र दीपक जो अपने गीतों के माध्यम से हमें अपनी 'मिट्टी' और 'ज्योति' से जोड़ देता है।

काल की द्रवधारी इस सुलगती चेतना को साधना राम के अनुसरण की तरह कठिन है और इसकी वर्णमाला को समझना कृष्ण को समझने की तरह मुश्किल। संश्लिष्टता और समग्रता में राम और कृष्ण जीवन की परिपूर्णता है। जीवन की तरह कृष्ण एक प्रश्न हैं और राम पूर्णविराम। हम यदि वैदेही और अर्जुन की तरह कर्मशील होंगे तो हमें राम भी मिलेंगे और कृष्ण भी। गीत-बाँसुरी के लिए लक्ष्य संधान तो करना ही पड़ेगा। कविता और गीत में हालाँकि गहरी आंतरिक समानता है, सृजन-समस्याओं की चिंता और चुनौतियां भी एक जैसी ही हैं लेकिन जैसे समुद्र लांघने की कोशिश में हर नदी उसमें समा जाती है, उसी प्रकार हर कविता (यदि वह कविता है) अन्ततः गीत में समा जाती है। गीत की वरुण-वीणा के लय-योग में भारतीय चिंता की वैश्विक गूंज है जो जीवन को वृक्ष-ताल से जोड़कर नीड़ अनुभूतियों की धूपगंध का ईश्वरीय रचना-विधान है। यही गीत का भारतीय भूमंडलीय ग्लोबल यथार्थ और रचना संसार है।

सांख्य शास्त्र में महर्षि कपिल का कहना है- 'राग-विरागयोर्योग: सृष्टि:'-राग-द्वेष के संयोग का नाम ही संसार है। दशकों पूर्व लिखा डी.एम.मधोक का एक गीत अक्सर राम-कृष्ण बनकर प्रज्ञा के उर्वर संगीत में बदल जाता है-

'जीवन बीन मधुर न बाजे, झूठे पड़ गए तार,
पंचम छेड़ो मध्यम बोले, षड्ज बने गंधार।'

जब-तब सुख के विमुख होने पर जीवन-वीणा के तार बेसुरे होकर हमें झूठा सिद्ध करते रहते हैं, क्योंकि हर व्यक्ति के जीवन में रामायण भी है और महाभारत भी। इन विश्रृंखलित राम-कृष्ण सुरों को जीवन की संरचना में ढालने के लिए आवश्यक है 'मंदर सप्तक' अर्थात् धीमे नीचे स्वर में साधना, जीवन में धीरे-धीरे गतिशील होना, तब कृष्ण 'मेघा' होंगे और राम 'मन'। जीवन अपने आप 'तार सप्तक' (ऊँचे स्वर) तक पहुँच जाएगा। नरेन्द्र दीपक की 'मेधा' और 'मन' गीत कबीर के लिए निरंतर जूझ रहा है, पूर्णत्व का यह संघर्ष अभी लंबा है। लक्ष्य प्राप्ति पर पारे से दु:खिया त्यौहार ऋतु संवाद करने लगते हैं और गूंगे छंद भी लय चक्र में गुनगुनाने को बाध्य हो जाते हैं। फिर न तो स्वर रूठेंगे और न ही जीवन को असत्य ठहरायेंगे। ऐसे में दु:ख की अतल गहराईयों से ऊपर उठकर मनुष्य खुद शिखरों को छूने लगता है। प्राण-अधरों का गीत-संगीत मनुष्य को कभी हारने नहीं देता और

शिखर कभी खत्म नहीं होते। इसीलिए 'गीत जैसा कुछ नहीं है पास मेरे' की विनम्रता 'मन की धड़कनों' से निकलकर 'सूने क्षणों में सोच की गहराइयों' में डूब जाती है। यही 'मन-मेधा' का रास नृत्य है और 'कविता-लंका' पर विजय का अनुशासन पर्व।

मनुष्य में अंतर्निहित प्राणों का जो छंदमय स्पन्दन है, वही मनुष्य को अमानवीय मूल्यों, मानवता-पथ पर गतिशील करता है। इस छंदसिक सत्ता बोध को यदि समग्र ब्रह्मांड में फैला दिया जाए तो मनुष्य के रूप में हमारा अस्तित्व न केवल सार्थक होगा अपितु प्रेरक भी होगा। इसीलिए ऋषि मन ने सदियों पूर्व ही-'न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित' कहकर मनुष्य की सार्वभौम सत्ता और महत्व को प्रतिस्थापित कर दिया था। जीवन अनन्त है और मनुष्य की सामर्थ्य भी अनंत है।

गीत मन-बुद्धि की लालित्य संस्कृति है। संघर्ष, अग्नि तत्व के प्रहरी गीत के बिना रहना संभव नहीं है। जन्म से ही श्वास लय नाड़ी की गति के साथ ताल मिलाकर चलती है। माँसपेशियों और स्नायुतंतुओं में एकमेल होकर उलझी लय-गति के अंतर्विज्ञान को समझकर ही शरीर विज्ञानियों ने माँसपेशियों और स्नायुतंतुओं में घुलनशील एक ऐसे तत्व की खोज की है जिसे वे 'लालित्य सहचर भाव' (किन-एस्थेटिक) कहते हैं। यहीं से लालित्य सहचर भाव आंतरिक जगत से ऊर्जा प्राप्त कर बाह्य जगत में छंदों की (गति की) खोज करता है। यही रस-तत्व कभी प्रभावित करता है, कभी उत्तेजित, कभी मूर्च्छित तो कभी आकुल-व्याकुल तथ चिंतनशील। यही मन की शोध ऊर्जा है और प्रज्ञा की काल संहिता। अनेक संधान परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि मनुष्य और इतर जंतुओं में विभिन्न प्रकार के छंद और लय स्वाभाविक उत्तेजना के साथ अद्भुत शक्ति का संचार करते हैं।

व्हेल मछलियां बहुत अच्छा गाती हैं। वे अपने गानों की लय स्वयं तैयार करती हैं। हर साल नर व्हेल मछलियां एक जटिल तीस मिनट की अवधि का गाना तैयार करती हैं। इस गाने का अपना थीम होता है और यह गाना उनके पिछले वर्ष की तुलना में बिल्कुल अलग तरह का होता है। यह उनकी एक वार्षिक प्रक्रिया होती है। (दृष्टव्य : पं. के. 30 मार्च 2011)। इधर जापान में हुए एक नये अध्ययन में दावा किया गया है कि चूहे भी इंसानों की तरह गाने की क्षमता रखते हैं। 2005 में अमेरिकी शोधकर्ताओं ने कहा था कि चूहे चुनिंदा वाक्यों को बार-बार दोहराते हैं, जैसे कुछ पक्षी करते हैं (दृष्टव्य : 11 मार्च 2011, दैनिक हिन्दुस्तान)। सुरीला गीत गाकर मच्छर भले ही आपकी नींद में खलल डालते हों, लेकिन एक नये अध्ययन के मुताबिक अपनी इस गायकी के जौहर से वे एक सही साथी की तलाश कर रहे होते हैं। मेडवे स्थित ग्रीनविच यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों, ससेक्स विश्वविद्यालय के अध्ययनकर्ता गिब्सन और रसेल ने बताया कि एनोफिलीज गैम्बियेन मच्छरों में आनुवंशिक विविधता होती है। दो मच्छर यदि एक ही लिंग के होते हैं तो दोनों का सुर नहीं मिल पाता (दृष्टव्य : दैनिक हिन्दुस्तान, 2 जनवरी 2011)।

शिशु जन्म से पाँच सप्ताह पूर्व ही भ्रूण में सुनने की क्षमता विकसित हो जाती है। 'न्यू साइंटिस्ट मैगजीन' के मुताबिक, जर्मनी के मैक्स प्लांक इंस्टीटियूट के वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित किया है कि मनुष्य का मस्तिष्क सबसे पहले संगीत और गीत को साथ-साथ सुनता है, फिर वह एक जटिल प्रक्रिया के दौरान गीत के बोलो को समझता है। इसके बाद वह दोनों के साथ अलग-अलग व्यवहार प्रदर्शित करता है (दृष्टव्य : डॉ. सुरेश गौतम : गीत की सत्ता और अवधारणा, शोध पत्र, छत्तीसगढ़ में राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत)। मनुष्य-भाव का यह आदि तत्व हिरण्यगर्भा कस्तूरी सा हमारी नाभि से बंधा है। मन-प्रज्ञा के नाभि-देश से ध्वनित लय और छंद माँसपेशियों और स्नायुओं को संगठित कर हमें भूमा स्थिति तक ले जाते हैं। चिकित्सा जगत इस आश्चर्य लोक में प्रवेश कर स्नायु दौर्बल्य को दूर करने के लिए अनुकूल लयों का निस्संकोच आश्रय ले रहा है। इन लयधारी सूत्रों, ध्वनन छंदों से यह सिद्ध हो गया है कि शब्द छंद के साथ हमारे

स्नायु मंडल का गहरा अंतर्सम्बंध है जो हमें जीवनानुकूल जीवट-संघर्ष और लालित्य-भावना की ओर प्रेरित करता है और हम गा उठते हैं। यही गीत की लालित्य संस्कृति है, चेतना में व्याप्त शोध, बोध, जिज्ञासा। गीत की इस त्रिधार धारा का संधान मात्र पर्याप्त नहीं होता, लक्ष्य-भेद भी होना चाहिए। नरेन्द्र दीपक उस लक्ष्य संधान में लगे हैं। मैंने कहीं पढ़ा था-'काया के पिंजरे चाहे जितने रंग के हों, मन का पंछी तो सबमें एक ही जैसा है।' मानव मन गीत की वैश्विकता है जहाँ गूंगे छंद भी ताल में गाते हैं और मनुष्य को कालानुरूप बार-बार पुनर्व्याख्यायित करते हैं। यही गीत का आदि संस्कार-स्फोट है। नरेन्द्र दीपक के गीतों का यही 'तरल मन' है। (पृ. 44)

गीतिकाव्य के प्रथम अक्षर अमीर खुसरो ने कहा है-'तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भए एक रंग'-कविता और गीत को इसी तरह समरस होना चाहिए लेकिन गीत और कविता आज पानी और पत्थर की तरह हैं। किसी से पूछा जाए पानी ज्यादा मजबूत है या पत्थर? अधिकतर लोग यही कहते हैं कि पत्थर मजबूत है। यही स्थिति आज कविता की है। जब गीत-नदी चलती है तो पत्थर कहता है-'मैं नहीं हिलूंगा।' पानी कहता है कोई बात नहीं, मैं ही उधर चलता हूँ, तेरे बगल में। तू नहीं हिलेगा मैं ही हिल जाता हूँ। आज के तथाकथित नयी कवितावादियों की यही स्थिति है। पर धीरे-धीरे पानी उस पत्थर को अपने में समा लेता है। वह अब पत्थर नहीं रह गया, रेत बन गया। रेत नदी के पास होती है या समुद्र के पास। रेत को देखो तो यह बात याद रखना कि यह वही पत्थर था जिसने पानी को चुनौती दी थी कि 'मैं नहीं हटूंगा, तू ही हट।' और पानी ने कहा था 'कोई बात नहीं।'

जब पानी बहने लगता है तो धीरे-धीरे उसके समक्ष कोई नहीं ठहर सकता। बड़ी से बड़ी चट्टान, शैल खंड भी उसके सामने नहीं टिक सकते। तथाकथित कवितावादी नकार दर्शन के प्रस्तोता जब कभी अपने आपसे पूछेंगे कि गीत में ऐसी क्या और कौन सी ताकत है कि सब तरफ से दबाने के बाद भी यह किसी अवरोध को नहीं स्वीकारता। साहित्यिक माफियाओं को रेत बनाकर सार्थक सकारात्मक कविता को अपने साथ लेकर निरंतर गतिशील है। इसके कारण क्या हैं? इसका मूलभूत कारण है मनुष्य-जिजीविषा के बीजमंत्र गीत की तरलता और लचीलापन। अपने मार्ग में आने वाले अवरोधकों को तो वह अपनी कुक्षि में ले ही लेता है, बड़े-बड़े शैल खंडों को भी अपनी तरलता और लचीलेपन से भू-ऊर्जा बना देता है। तरलता के इस शक्ति-स्रोत के कारण ही वह कविता के बीचोंबीच शिवलिंग की तरह सदैव प्रतिष्ठित है और रहेगा। दीपक की 'लौ' अपना अंग जलाकर ही प्रकाश उत्पन्न करती है और कोई यदि 'बहने पर उतारू' (पृ. 42) हो जाये तो यही उपनिषद् की परिव्राजकता है, यही 'चरैवेति-चरैवेति' का क्रियात्मक सार्वभौम चैतन्य जल-दर्शन। इसीलिए गतिशील रहना है तो दीपक-गीत बनो, जल बनो-

'मैं दीपक हूँ सूरज का सम्बन्धी
तुम तम की मुझसे बात नहीं करना....
दे सकूँ ज्योति कुछ जग को इसीलिए
अंतर में ज्वाला पाले हूँ
सौ बार मुझे धमकाया आंधी ने
लेकिन मैं अपनी उमर सम्भाले हूँ।' (पृ. 107-108)

जल, सृष्टि-सत्य है, इसी का प्रतिरूप है मन का सत्य गीत और जीवन का यह आलोक सत्य किसमें प्रतिष्ठित है? हृदय में। बस।

इस वैचारिक सीप अध्याय में मैंने नरेन्द्र दीपक के गीतों के समीक्षा मान नहीं गढ़े हैं और न ही परम्परित मानक सिद्धांतों पर उनके गीतों को कसा या परखा है। मन-मेधा में घुलने वाले इनके कुछ गीतों को चुनकर मैंने गीत की अंतर्भूमि को एकबार पुनः समझने की कोशिश की है। इस सीप कलश चिंतन पत्र का मात्र इतना ही उद्देश्य है। इसमें यदि कुछ रस है, वह आपका, जो कुछ ग्रंथिल है वह मेरा। इसे इसी संदर्भ में समझना मेरे प्रयास को शक्ति देगा। इत्यलम्।

संपर्क : 'सौभाग्य श्री', 737, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110099

चुटकी-चुटकी चाँदनी : चन्द्रसेन विराट

अशोकनगर : **प्रो.एस.एन.सक्सेना :** गीतकार, ग़ज़लकार चंद्रसेन विराट का संग्रह 'चुटकी-चुटकी चाँदनी' में दोहों का संग्रह है। कहावत, लोकोक्तियों, मुहावरों का प्रयोग दोहों को सुंदरता प्रदान करते हैं। पुस्तक को बार-बार पढ़ने को मन करता है। **डॉ. रामसेवक सोनी :** 'चुटकी-चुटकी चाँदनी' के दोहों में साहित्य का सौंदर्य झलकता दिखाई देता है। कहावतें, मुहावरे, अलंकार एवं भाषा का सौंदर्य जीवंतता को प्रकट करते हैं। **प्रदीप सक्सेनाः** चंद्रसेन विराट के दोहों ने विविध संबंधों का निर्वाह कर दोहावली को महत्वपूर्ण बना दिया है। **सुधीर गुप्ता :** विराट के दोहों में अलंकार योजना, लोकोक्ति एवं मुहावरों के माध्यम से विचारों का संयोजन सुंदर दिखाई देता है। **सुभाष सरल :** चंद्रसेन विराट ने दोहे जैसे छंद में भी विविध विषयों का निर्वाह कर पुस्तक को सुंदर रूप प्रदान किया है।

गुना : डॉ. जीके शर्मा : श्री विराट ने इन दोहों में क्या समाज, क्या राजनीति आदि सभी विषयों को बड़ी सहजता के साथ प्रस्तुत किया है। सरल भाषा का प्रयोग किया है। **एचएन शर्मा :** दोहा छंद भी चंद्रसेन विराट ने जैसे आत्मसात होकर जिया है। उन्होंने आत्मीय प्रसंगों का समावेश अपने इन दोहों में जिस खूबसूरती के साथ किया है। वह आत्मानुभूति की बात है, उसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता है।

डबरा : कुँवर हाकिम सिंह राणा 'किशंक' : कवि ने आम आदमी की समस्याओं को लेकर सीधे-सरल प्रतीकों के माध्यम से अपनी बातें रखीं हैं। **राजेन्द्र नामदेव :** रचना है रचना वही, स्वीकारे जो लोक। जिस दिन लिख दे एक भी तोड़ कलम की नोक। यों कवि ने दोहों में जीवन के अनेक रंग बिखेरे हैं। **वेदराम प्रजापति 'मनमस्त'**

: संग्रह की अपनी नवीन विशेषताओं में जनजीवन के नव जागरण हेतु अनेकों संदर्भों का सहारा लिया है। रचनाएँ साहित्य की कसौटी पर खरी है। **भगवानदास स्वर्णकार :** कवि को बोध है कि प्रभु की अनुकूलता हो तो ग्रहों की प्रतिकूलता कुछ नहीं बिगाड़ सकती। **रामगोपाल भावुक :** कवि ने इस संग्रह के माध्यम से जीवन के सभी पहलुओं पर दृष्टि डाली है। **डॉ. हरीश कुमार श्रीवास्तव :** लेखक ने निराकर ईश्वर को साकार बना दिया है।

राजगढ़ : काल्लूखाँ कुरेशी : दोहावली अद्‌भुत है। विराट जी ने गागर में सागर भरा है और बिहारी के लिए कहा गया यह दोहा मैं विराट जी के लिए प्रयोग करता हूँ कि चुटकी चुटकी चाँदनी के दोहे तीखे तीर, देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर। **नंदकिशोर पंचोली :** उनका गीत पठन लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। **वल्लभ चौरसिया :** विराट जी ने सहज, सरल आमबोल चाल की भाषा में दोहों में समाज के हर वर्ग को आंदोलित किया है। **डॉ. शिवसिंह पतंग :** विराट जी के गीत कचनार की कली की प्रयोगधर्मिता तथा नवगीत परम्परा का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री विराट जी को शिखर पर स्थापित किया।

मऊगंज : नागेन्द्र प्रसाद शर्मा : यह संग्रह वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य का वास्तविक व यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। **चंद्रवंश प्रसाद मिश्र :** विराट जी ने चारो दिशाओं में अपनी पैनी निगाह फेंक कर दोहों के माध्यम से अन्याय, अत्याचार और कुरीति पर चुटीला और तीखा प्रहार किया है। **शिव कुमार चतुर्वेदी :** इस कृति में कवि एक सफल समाज सुधारक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। **गोविन्द मिश्र :** 'शहरों के जंगल दिये' शीर्षक कविता में यह व्यक्त किया गया है कि इस भौतिक युग में मानव जीवन विनाश के मार्ग पर बढ़ रहा है। **मधुर हरिजन :** तपे हुए रचनाकार की भाँति कवि ने देश की राजनीतिक अव्यवस्था और छुआछूत पर अपनी लेखनी चलाई है। **मन कामना द्विवेदी :** इस संग्रह में कवि ने समाज सुधार और राष्ट्रप्रेम की अलख जगाते हुए सामान्यजन की आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है।

अमरपाटन : विरेन्द्र सोनी : चंद्रसेन विराट द्वारा यह दोहा संग्रह वर्तमान साहित्यिक, ऐतिहासिक तथ्यों और दार्शनिक अनुभवों का संग्रह है। **सुरेश शुक्ल :** चंद्रसेन विराट द्वारा लिखित 'चुटकी चुटकी चाँदनी' दोहा संग्रह साहित्यिक क्षेत्र में अपने आप में ऐतिहासिक, दार्शनिक, प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक पहलुओं का अनूठा संग्रह है। **नरेन्द्र सोनी :** विराट जी के दोहे में साहित्यिक सांस्कृतिक और जीवन मृत्यु के समक्ष जीवन के प्रति कर्त्तव्यों का दायित्व परिप्रेक्ष्य में बड़ी सूझबूझ से सूक्तियों के माध्यम से अपना मनोभाव व्यक्त किया है। **इंद्रपाल द्विवेदी :** विराट जी ने अपने दोहे में प्रदूषण, नशाखोरी, दहेज की समस्या वर्तमान न्याय व्यवस्था पर दोहे के माध्यम से सत्य को उजागर किया है। **तरुण पाठक :** विराट जी ने कहा कि मानव जीवन लाभ, हानि, आशा, निराशा, सत्य, असत्य, जब जीवन में आता है तब मन में निराशा और संतोष के क्षणों में वह झूलता नज़र आता है। **राजेन्द्र सिंह :** विराट जी का दोहा संग्रह पौराणिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों का विचार मंथन गंभीरता से प्रस्तुत करता है। **संतोष द्विवेदी :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' संग्रह में स्नेह और अनुराग की एक मिसाल है, जो इतिहास को समेटे हुए गंगा की तरह पवित्र है। **राजमणि सिंह :** संग्रह विभिन्न क्षेत्रों में अपनी पैठ रखता है, जो वर्तमान युग के भाव बोध का समसामयिक पिटारा है। **बी.एल.गोसाई :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' एक श्रेष्ठतम स्तरीय रचना समाज के सामने प्रस्तुत की गई है, जिसमें मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रांकन दोहों के माध्यम से किया गया है।

छपारा : एलिकजेंडर : दोहा संग्रह को लोगों ने इच्छानुसार पढ़ा। यह सच है हिंदी काव्य की लोकप्रिय छंद विधा दोहा के लेखन में प्रवृत्त हुई है। **जावेद :** आम आदमी की समस्याओं के प्रति कवि जागरुक है। अंधविश्वास पर पैना तीर चलाया है। **आर.एलिक :** समाज के हर पहलू पर प्रकृति के प्रेम प्रसंग के आनंद में डूबकर पाठक को शामिल करने का सफल प्रयास किया है। **नारायण :** मंचीय कवि अपनी सुरबद्ध आवाज़ से उपस्थित श्रोताओं का मन मोह लेते हैं। **तुलसीदास :** दोहे पढ़कर लगता है कि काव्य की रसानुभूति रचनाकार के रोम-रोम में बसी है।

बरघाट : प्रदीप कुमार तिवारी : कवि ने जहाँ समाज, राजनीति न्याय पद्धति पर तीखा कटाक्ष किया है, वहीं मानवीय प्रेमिल संवेदना भी प्रस्तुत की है। **कैलाश अग्रवाल :** माता-पिता के प्रति कवि ने पूर्ण सद्भावना, श्रद्धा और समर्पण के भाव को अपनी लेखनी से उकेरा है। **डॉ. सुरेन्द्र अवधिया :** कवि ने इस संग्रह के माध्यम से कारगर उपाय सुझाया है। **अनिरुद्ध कुमार तिवारी :** कवि ने भक्ति भावना से ओत-प्रोत होकर प्रभु की शरणागति की भावना की है। **डॉ. एस.पी.पाठक :** कवि ने दोहा छंद का प्रयोग क्यों किया? इस भाव को कवि ने स्पष्ट किया है कि इन दोहों में अमोघ शस्त्र जैसा प्रभाव है। यह हृदय में नई आशा, उमंग और अहलाद के भाव भर देता है।

सिवनी : डॉ. श्रीमती कुसुम गौतम : 'चुटकी चुटकी चाँदनी' का दोहा दोहन के सिरमौर है, किंतु सहज स्मरणीय नहीं होने के कारण विद्यार्थी वर्ग से विशेष प्रतिसाद नहीं मिलता। **सुश्री अर्चना चंदेल :** संग्रह काव्य प्रतिभा का अद्भुत नमूना है। पारम्परिक मात्रिक छंद को कवि विराट ने आधुनिक युग का उर्वरक प्रगति बीज बनाकर प्रस्तुत किया है।

बालाघाट : कंचनलाल मौर्यवी : विराट जी के इन बहुआयामी दोहों में जीवन-जगत की सारगर्भित मार्मिक भावनाएँ निहित हैं, जो जीने की कला और गहरी समझ से आप्लावित है। **प्रो.एल.सी.जैन :** चंद्रसेन विराट के दोहा संग्रह 'चुटकी चुटकी चाँदनी' एक मौलिक कृति है। **श्रीमती लक्ष्मी जैन :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' चंद्रसेन विराट जी की एक बहुआयामी दोहा कृति है। **अशोक सिंहासने 'असीम' :** कवि ने दोहों के रूप में जीवन के हर पहलू को इस संग्रह में प्रस्तुत किया गया है, चाहे वह श्रृंगार हो विरह हो, चाहे वात्सल्य हो या अन्य किसी भी क्षेत्र की बात हो। **प्रेमप्रकाश त्रिपाठी :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' अनुपम एवं अपने आप में संपूर्ण दोहावली है। **श्रीमती माला ठाकुर :** विराट जी के दोहा संग्रह में दोहों के बीच प्रसंगों को सार्थकता प्रदान करने हेतु लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे का प्रयोग सोने में सुहागे का काम करता है। **अशोक सागर मिश्र :** चंद्रसेन विराट के दोहों में जहाँ एक ओर भक्ति प्रेम प्रसंग, श्रृंगार मिलता है वहीं दूसरी ओर एक जीवन दर्शन, शिक्षा एवं जीवन जीने की कला का भी दर्शन भली भाँति होता है। **कबीर मो. अंसारी :** विराट जी की दोहावली 'चुटकी चुटकी चाँदनी' में भाषायी एकता एवं अखंडता का परिदृश्य स्पष्ट होता है।

सीधी : डॉ. अनिल कुमार सिंह : कबीर, तुलसी, बिहारी, रहीम आदि की दोहा परम्परा को आगे बढ़ाने का जो विराट ने प्राणवान व्रत लिया है, वह प्रणम्य है। **यज्ञशरण मिश्र :** दोहा काव्य की सर्वश्रेष्ठ विधा है। इस विधा में जिसने भी कलम चलाई वह सफल रहा। **रामचंद्र सोनी बरागी :** विराट के पास अनुभवों का भंडार है। उनके दोहे विविध रंगी भावों तथा स्थितियों को व्यक्त करने तथा पाठक के मन में स्थान बनाने की हैसियत रखते हैं। **एस.पी.तिवारी :** अधिकतर दोहे एक सच्चे कवि के भीतर संकट से निकले दोहे हैं। कवि अच्छा जीने लायक संसार रचना चाहता है और मरने लायक भी। **सुरेश पाण्डेय :** विराट के दोहे उनकी अपनी जीने वाली दुनिया के दोहे हैं। **विजय कुमार सिंह :** मुहावरों और कहावतों का जितना अच्छा प्रयोग दोहों में विराट जी ने किया है वह उनके श्रेष्ठ कवि होने का परिचय देता है।

दतिया : सियाशरण भट्ट : विराट जी बहुत अच्छे गीतकार हैं। इसी के साथ उन्होंने दोहा जैसे छोटे छंद में अपने भाव व्यक्त करके अपनी अभिव्यक्ति कुशलता का परिचय दिया है। **जगदीश सुहाने :** विराट जी की कविता का पहले से जो प्रभाव मन पर बना है ये दोहे उस प्रभाव में वृद्धि करते हैं। **राम भरोसे मिश्र :** विराट जी का यह दोहा संग्रह कविता की दृष्टि से सराक्त है। **जयप्रकाश मिश्र :** इन दोहों में दर्शन व्यक्त है। **जगत शर्मा :** शास्त्रीय छंद की दृष्टि से कुछ दोहों में शिथिलता है, फिर भी इन दोहों को नकारात्मक होकर नहीं बल्कि सकारात्मक होकर पढ़ना ज़्यादा उचित है। **सुरेश साटय :** इन दोहों की प्रस्तुति अच्छी है। यथार्थ के कारण इन दोहों का प्रभाव व्यापक है। **कामता प्रसाद सड़ैया :** प्रसिद्ध गीतकार विराट जी के दोहे उनके विराट नाम को तो सार्थक करते ही हैं, इसी के साथ समसामयिक जीवन दर्शन से संपृक्त प्रतिभापूर्ण अभिव्यक्तियों को भी प्रकट करता है। **राजनारायण बोहरे :** विराट ने अपने रचना-संसार में एक नया आयाम

दोहा लिखकर जोड़ने का प्रयत्न किया है। **के.बी.एल.पाण्डेय :** विराट में अद्भुत रचना-शक्ति है। उनका रचना परिदृश्य बहुत व्यापक है। वह अनुभूति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। **राधाचरण वैद्य :** विराट के इन दोहों में परिवार, समाज, जनतंत्र, राजनीति, आतंकवाद, शासन, प्रशासन, व्यवस्था, अपसंस्कृति आदि पर प्रभावपूर्ण ढंग से लिखा गया है।

देवास : डॉ. इक़बाल मोदी : साम्प्रदायिकता और धार्मिक आडंबरों पर विराट जी ने खूब खदेड़ा है। **शकुंतला दुबे :** विराट जी ने दोहा काव्य विधा को शास्त्रीयता दी है। वहीं सामाजिक, राजनीतिक, विसंगतियों पर भी गहरी चोट की है। **यतीश कानूनगो :** हमारे रचनाकारों ने साहित्य के काव्य रस को दुहा है, तो दोहे के रूप में रसिकों को आस्वादन भी कराया है। **राजकुमार चंदन :** दोहे-कृति संग्रह में पैंनेपन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते फिर भी उनकी लेखनी को कमतर नहीं आँका जा सकता। **डॉ. ओम प्रभाकर :** गीत, ग़ज़ल, मुक्तक आदि विधाओं में उन्होंने लिखा है। वे हर बात को छंद में कहते हैं। **रामचंद्र राम :** विराट जी का कविता लेखन का फलक भी विराट है। उनकी दोहावली मार्मिक भाषा में होकर काफी छींटाकसी करती है। **राजेन्द्र राठौर :** कबीर सी सरलता, रहीम सी सहजता, बिहारी और जायसी सी अध्ययन शीलता और तुलसी सी आदर्शता विराट के रचनाधर्म में झलकती है।

नईगढ़ी : समयलाल मिश्र : विराट यथानाम तथा गुण को चरितार्थ करते हैं। दोहा संग्रह 'चुटकी चुटकी चाँदनी' पढ़कर दोहों के पूर्ववर्ती कवियों के दोहों से भाव साम्यता अति प्रभावित करती है। **सूर्यमणि शुक्ल :** दोहों की विषयवस्तु बहुरंगी है। कवि का गागर में सागर भरने का प्रयास स्तुत्य है। **रामभद्र मिश्र :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' विराट जी का बेजोड़ अधुनातन दोहा संग्रह है। **संतोष कुमार मिश्र :** विराट जी ने अपने इस संग्रह में विविध विषयों का समावेश किया है। **रामायण प्रसाद त्रिपाठी :** दोहा साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है। वह अत्यंत प्रभावोत्पादक होता है। विराट जी के दोहे ग़ज़ल से टक्कर लेते हैं। **ब्रजमोहन प्रसाद मिश्र :** विराट जी का यह दोहा संग्रह वर्तमान सामाजिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक अनुभवों का सुंदर संग्रह है। **राम कैलाश गुप्त :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' दोहा संग्रह पढ़ने के बाद मुझे काफी मानसिक शांति एवं तृप्ति मिली।

सतना : डॉ. अजय तिवारी : कवि दोहों के माध्यम से आधुनिक विचार, बाज़ारवाद और सामाजिक चित्र उपस्थित करता है। **आर.के.श्रीवास्तव :** जैसे मनुष्य के शरीर में आँख होती है उसी तरह साहित्य में दोहा होता है। **चिंतामणि :** परम्परा से हटकर दोहे लिखे हैं किंतु सभी दोहे अनायास नहीं लिखे गये बल्कि सायास लिखे लगते हैं। **विनोद पयासी :** प्राचीन कवियों के दोहे सामान्य जनता को मौखिक याद रहते थे। और जो सहजता पहले के कवियों में थी। वह विराट में देखने को नहीं मिलती। **ए.आर.तिवारी :** कविता संग्रह अपने में गहरे निहितार्थ समेटे हुए है।

टीकमगढ़ : रामस्वरूप दीक्षित : दोहों को माध्यम बनाकर विराट ने कम शब्दों में अपनी पूरी-पूरी बात सफलता पूर्वक व्यक्त की है। **वीरेन्द्र बहादुर :** विराट ने अपने दोहों में मुहावरों एवं कहावतों का भरपूर प्रयोग किया है। **डॉ. एन.डी.सोनी :** विराट द्वारा सृजित दोहों में अनेक हिंदी और उर्दू के कवियों द्वारा पूर्व में रचित रचनाओं के भावों की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। **अजित श्रीवास्तव :** विराट के दोहों में षटरसव्यंजन जैसे आनंद प्राप्त होता है। **हरिविष्णु अवस्थी :** सामाजिक विघटन पर विराट जी ने अच्छा प्रकाश डाला है।

अयोध्यानगर-भोपाल : सुश्री कांति शुक्ला उर्मि : संग्रह के दोहे आम पाठक को स्पर्श करते हैं। दिशाहीन व विसंगतियों से भरे समाज को यह दोहे दिशा प्रदान करने का भरपूर प्रयास करते नज़र आते हैं। **श्रीमती मेघा मैथिल :** दोहा संग्रह एक अनुपम कृति है जो सिर्फ़ पठनीय ही नहीं अपितु संग्रहणीय भी है। **ब्रजभूषण शर्मा 'बिड़ला' :** विराट जी के दोहे युगानुकूल हैं। उनके दोहे का शिल्प व भाव दोनों दृष्टि से समृद्ध है। **संजय विंचनकर 'अकेला' :** विराट जी के दोहे छंदानुशासन का कठोरता से पालन करते हैं। **पी.सी.रजक :** हर दोहा अपने में एक विराट संदेश

लिए हुए है। **घनश्याम अमृत :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' में विराट जी ने विविध विषयी दोहों का अनुपम संग्रह है।

मण्डला : श्रीमती सावित्री देवी चौरसिया : 'चुटकी चुटकी चाँदनी' अपने आप में सूक्ष्मता से विराट अर्थ लिए कवि के नाम को सार्थक करती है। वास्तव में दोहाकारों के लिए आदर्श, अनुकरणीय काव्य कृति है। **विजय सिंह चौधरी :** अंजुरी-अंजुरी प्रवाह लिए कवि के नाम के अनुरूप सुंदर श्रेष्ठ है। **रामेश्वर हरिद :** दोहाकार चंद्रसेन विराट की कृति परिपक्व और अपने में परिपूर्ण है। **श्रीमती प्रतिमा वाजपेयी :** कृति प्रेरक है। कृति को शिक्षाप्रद बताते हुए प्रभावित करने वाली कही। **डॉ.जे.पी.चौरसिया :** कृति को बार-बार पढ़ने की इच्छा जाग्रत होती है। **चेतराम चंद्रेश :** काव्य संग्रह समाज का दर्पण है। बार-बार पढ़ने योग्य है।

मंदसौर : श्रीराम गोपाल शर्मा 'बाल' : हिंदी काव्य जगत में गीत, ग़ज़ल एवं मुक्तक को प्रसिद्ध दिलवाने वाले कवि श्री विराट ने दोहों को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया है। **विनोद कुमार शर्मा :** कवि वर्तमान काल से खिन्न है उसका मानना है कि परिवर्तन सभी चाहते हैं, पर एक चिंगारी की ज़रूरत है। **डॉ. चंद्रकांत द्विवेदी :** अपने संग्रह में विराट विषयों को समेटा है। दोहे रचने की उनकी जिद में उन्होंने एक ही बात को कई तरह से व्यक्त किया है। **देवेश्वर जोशी :** दोहों में सहज एवं सरल अभिव्यक्ति से कवि ने अपने दार्शनिक अनुभवों को प्रस्तुत किया है।

मैहर : डॉ. गंगा प्रसाद बरसैंया : प्रकृति चित्रण, जीवन दर्शन, शृंगार-वियोग, भक्ति, मिथक तथा वर्तमान जीवन के खतरों को दोहों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। **डॉ. आर.के.चौरसिया :** दोहे छंद में आधुनिक जीवन के विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति करते हुए नई रचना दृष्टि स्थापित करते हैं। **रामनरेश तिवारी :** दोहे की उपदेशात्मक प्रकृति से भिन्न आत्मविश्लेषण तथा यथार्थवादी दृष्टि दोहा रचना को नया आयाम देती है। **भागवत चौरसिया :** विराट की बहुमुखी प्रतिभा रचना के विविध आयामों की प्रस्तुति में व्यक्त हुई है। **के.पी.सिंह :** दोहा छोटे छंद में होने से स्मरणीय होता है। अतः इस छंद का प्रयोग आज के रचनाकारों को करना चाहिए।

छिंदवाड़ा : नेमीचंद 'व्योम' : संस्कृत के अनुष्टुप छंद के साथ ही प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में दोहे के परिवर्तित स्वरूप में भारत के गौरवशाली अतीत और विरासत की अभिव्यक्ति हुई है। इस सशक्त विधा में कवि ने अपने नाम और विराट व्यक्तित्व के अनुरूप सशक्त दोहे लिखे हैं। **लक्ष्मीप्रसाद दुबे :** इस संग्रह में आज के सामाजिक परिवेश, राजनीति में भ्रष्टता, आतंकवाद, नई एवं पुरानी पीढ़ी के सरोकार, अतीत की स्मृति, जीवन के पाठ, साहित्य क्षेत्र में गुटबाजी, भाग्य-पुरुषार्थ, दार्शनिक-आध्यात्मिक विचारधारा आदि पर कवि ने अपनी भावनाएँ और विचार प्रकट किए हैं। **परसराम तिवारी :** संग्रह के दोहों में एक प्रवाह है तथा जिन विषयों पर दोहे लिखे गए है, उनमें ज़्यादातर कवि सफल रहा है। **सुरेन्द्र वर्मा :** कवि ने बहुत बढ़िया दोहे लिखे है जो समय की धारा में बने रहेंगे। कवि ने एक ठोस प्रयास किया है तथा प्रेमिका की तुलना में पत्नी के सौंदर्य का चित्रण अच्छा है। **शिवराम विश्वकर्मा 'उजाला' :** कवि ने अपने दोहों में आदमी, नेता, प्रेम, प्रकृति, साहित्य, कविता, शहर, महानगर, राजनीति, समाज जैसे प्रसंगों-विषयों पर अपनी कलम का कमाल दिखाया है, जो कवि के प्रयासों की सार्थकता सिद्ध करता है। **महावीर प्रसाद भारती :** मानव समाज में चलते रहने वाली समस्याओं पर कवि आम जनता के बीच अपने विचार रखने में सफल रहा है। **उमेश वर्मा 'दीनबन्धु' :** संग्रह के दोहों में कवि का दर्द है तथा उसका मन कन्या की तरह कोमल और संवेदनशील दिखाई पड़ता है। मन में फैले अँधेरे को दूर करने का सार्थक प्रयास है। **ओमप्रकाश 'नयन' :** दोहो में कवि ने युगीन परिस्थितियों, विसंगतियों और समय को परिभाषित किया है तथा विषयों की गहराई में अवगाहन कर मौलिक चिंतन और यथार्थ चित्रण किया है। **दिनेश भट्ट :** कवि ने छंदबद्ध कविता के प्रति लगातार जो कार्य किया है ये दोहे उसी का परिणाम है। **दिनेश कुमार परिहार :** दोहों में कवि ने नई चीज़ों पर आधुनिक संदर्भ

में लिखा है तथा वर्तमान परिवेश के अनुसार कई विषयों को छुआ है। दोहे बहुत बढ़िया हैं।

खण्डवा : अरुण सातले : विराट जी ने अपने दोहों में जीवन और जगत के विविध आयामों को अभिव्यक्त किया है। **गोविंद कुमार गुंजन :** छंद की परंपरा को आगे बढ़ाने और निखारने में दोहाकारों का योगदान विशिष्ट है, इनमें विराट जी का स्थान महत्वपूर्ण है। **सुधीर देशपांडे :** इसमें इतने सारे विषयों को स्पर्श किया गया है कि जीवन का उपवन पूरे सौंदर्य के साथ सामने आ जाता है। **निरंजन सिंह जायसवाल :** ये दोहे यादगार बन गए हैं। इनमें यथार्थ का कलेवर पूरे सौंदर्य के साथ विद्यमान है। **डॉ. रेखा गुंजन :** प्रसन्नता है कि छंद की महिमा अभी निष्प्रभावी नहीं हुई है। **रघुवीर शर्मा :** बिना छंद के कविता विस्मृति की कगार में चली जाती है किंतु समर्थ दोहों में कवि का चिंतन सदैव स्मृति का अंग बना रहता है।

बैरसिया : अशोक राजवैद्य : चन्द्रसेन विराट की पुस्तक 'चुटकी चुटकी चाँदनी' नामक दोहों का संग्रह अनूठा है, कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जिस पर कवि की नज़र नहीं गई है। **पंकज गट्टानी :** दोहे बार-बार पढ़ने के लिए मन करता है। आज के दिशाहीन नेतृत्व के मन में शिखर पर पहुँचने की चाह, नेताओं को कुर्सी मोह पर कवि द्वारा जोरदार प्रहार किया है। **रमेश कुमार शर्मा :** विराट जी के दोहे विसंगतियों भरे आजकल के युग में सही जगह पर चोट करते हैं तथा अपने उद्देश्य में सफल होते हैं। **कैलाश मालवीय :** चन्द्रसेन विराट के दोहों की बात की जाए तब दोहे और भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। **अमरजीत सिंह गांधी :** चन्द्रसेन विराट के दोहों का संकलन मुझे प्रिय लगा क्योंकि दोहों के माध्यम से उन्होंने समाज को दिया उतना अन्य कवि सैकड़ों पुस्तकें लिखकर भी नहीं दे सके। दोहे बहुत ही उद्देश्यपूर्ण तथा सशक्त है।

इंदौर : विलास गुप्त : विराट का साहित्य समकालीन समस्याओं और मानव जीवन में व्याप्त विसंगतियों तथा विद्रूपताओं पर प्रकाश डालता है। एक रचनाकार के रूप में वे सफल हैं। **प्रभु त्रिवेदी :** रचनाकार के रूप में विराट ने अपने जीवन अनुभवों को इस पुस्तक में बाँधा है। सहज-सरल भाषा में लिखे गए ये दोहे पाठक को बहुत दूर तक ले जाते हैं। **जवाहर चौधरी :** विराट के दोहों में हमारा समय मौजूद है। **सुखदेव सिंह कश्यप :** विराट ने इन दोहों में मनुष्य के जीवन के अनेक पक्षों को उजागर किया है। **चंद्रभान भारद्वाज :** विराट के दोहों में मन के बहुत महीन विचार प्रकट हुए हैं। **श्रीकांत उपाध्याय :** विराट के दोहों में भारतीय संस्कृति और पौराणिक संदर्भ उपस्थित हैं। **राकेश शर्मा :** वरिष्ठ कवि विराट के जीवन अनुभव इन दोहों में उपस्थित हैं।

नीमच : प्रो. निरंजन गुप्ता राही : यह संकलन इस कारण भी विशिष्ट है कि इसमें दोहों को विषयवार रखा गया है। **कुसुम त्रिवेदी :** पुस्तक पढ़कर यह लगता है कि हिंदी साहित्य में शास्त्रीयता को पुन: प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। **डॉ. निकलसन बक्षी :** विराट की यह दोहा कृति हिंदी काव्य व हिंदी कवियों के लिए अनुपम है। **अब्दुल कादिर खान :** विराट साहब के दोहे अपने लगते हैं। यह किसी भी शायर की कामयाबी के लिए पैमाना है। **प्रो. सुरेन्द्र शक्तावत :** विराट के दोहे सरल, सुबोध व सरस हैं। **विमलचंद जैन :** विराट की लेखनी का पैनापन दोहों को सार्थक एवं दीर्घकालिक बना देता है।

श्योपुर : रमेशचंद्र चांदिल : 'चुटकी चुटकी चाँदनी' विराट की प्रतिभा के अपूर्व आयाम के रूप में यही दर्शाता है कि हिंदी की प्राचीनतम काव्य विधा दोहा आज भी अत्यंत समर्थ, सार्थक और सृजनात्मक काव्य विधा है। **रामस्वरूप शर्मा :** दोहा को काव्य के केन्द्र में स्थापित करने की सामर्थ्य सभी में नहीं है। **रमेश चंद्र शर्मा :** 'चुटकी चुटकी चाँदनी' के दोहों में कबीर का फक्कड़पन, जायसी का सूफियाना अंदाज, तुलसी का भक्ति दर्शन, और बिहारी का शृंगार एक साथ देखा जा सकता है। **शंभू दयाल शर्मा :** दोहा जैसे देखन में छोटे लगे घाव करें गंभीर विधा के माध्यम से कवि ने मानव जीवन का कोना कोना झाँकने में सफलता प्राप्त की है। बधाई। **सत्य नारायण शर्मा :** देश की प्राचीनतम काव्य विधा दोहा के माध्यम से विराट जी ने सभी विषयों पर अपनी विराट दृष्टि डाली है जो तारीफ के काबिल है। **डॉ. सतीश शर्मा :** चंद्रसेन विराट का विराट काव्य दर्शन उनके विराट सृजन संसार का दिग्दर्शन कराता है।

चिट्ठी

साक्षात्कार अप्रैल 2011 में आपका सम्पादकीय 'व्यक्ति और देश' पढ़कर मन प्रसन्नता से खिल उठा। आपके राष्ट्रवादी चिंतन के साथ व्यक्ति की साहसिकता मन मोहती है। प्रो. राजाराम का आलेख 'कला शक्ति और विचार' विद्वता की प्रतिष्ठा है। सारी व्याख्याएँ तथ्यपूर्ण तथा अध्ययन परक हैं। डॉ. कुलश्रेष्ठ की रचनाएँ उनके अकेलेपन के अंधकार की सरल अभिव्यक्तियाँ हैं। समीक्षाएँ नये सृजन से परिचित कराती हैं। आपके यहाँ पाठकमंच के लिए पुस्तक की प्रति प्रत्येक पाठक को भेजी जाती है क्या? अच्छे अंक के लिए बधाई।— **डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय', कोटा।**

साक्षात्कार का अक्टूबर-नवम्बर अंक मिला। साहित्य समाज का दर्पण नहीं सम्पादकीय प्रभावशाली और स्मरणीय है। सम्पादक जी की विद्वता प्रभावित करती है। यही प्रभाव पूरे अंक में है। खासतौर पर डॉ. मीनाक्षी स्वामी की कहानी सड़क की कराह काव्यात्मकता के साथ पर्यावरण की चिंता को कुशलता से व्यक्त करती है। डॉ. शिवकांत त्रिपाठी का आलेख ज्ञानवर्धक है। कुल मिलाकर सभी रचनाएँ साक्षात्कार की गरिमा को बढ़ाती हैं। यदि रचनाकार का संक्षिप्त परिचय भी होता तो अधिक प्रभावोत्पादक होता। आशा है यह गरिमा बनी रहेगी।— **डॉ. हेमलता मिश्रा, लखनऊ।**

अक्टूबर-नवम्बर का सम्पादकीय सारगर्भित है और साहित्य के नए आयाम को सामने लाता है। इस हेतु बधाई। कहानियों में डॉ. मीनाक्षी स्वामी की कहानी कलात्मकता के साथ महीन बुनावट का सौंदर्य लिए है जो रचना को उच्च कोटि की श्रेणी में रखता है। डॉ. एन.सुंदरम् का स्मृति आलेख बच्चन जी के व्यक्तित्व के सर्वथा नवीन पहलुओं से परिचित कराता है। डॉ. प्रमोद शर्मा का शोधपरक आलेख सहेजने योग्य है। पत्रिका के नियमित निकलने और सार्थक सामग्री

के लिए आपको बहुत-बहुत बधाई। **— डॉ. वाणी निधि, जयपुर।**

अक्टूबर-नवम्बर अंक बेहद प्रभावी है। साहित्य समाज का दर्पण नहीं ऐसे विचारोत्तेजक और साहसिक सम्पादकीय लिखने के लिए साधुवाद। अन्य रचनाएँ भी चुनी हुई और स्तरीय हैं। मीनाक्षी स्वामी की कहानी सड़क की कराह बड़े ही कलात्मक तरीके से झकझोर कर रख देती है। कविताओं में सोनू उपाध्याय की कविता उल्लेखनीय है। समीक्षाएँ सार्थक हैं और शोध आलेख उच्च कोटि के। विश्वास है आपके संपादन में पत्रिका नई उँचाइयों को छुएगी। **— पी.एन.शर्मा, जयपुर।**

साक्षात्कार अंक 376 अप्रैल 2011 प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। बहुत पिछड़े कार्य को पूर्ण कर यहाँ तक पहुँच गये धन्यवाद। 'डूबा सा अनडूबा तारा' कैलाश वाजपेई को पढ़ मन प्रसन्न हो गया। हृदय को झकझोर देने वाली श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। पीड़ित तुम्हारी हर भूल से प्रेत का जीवन जीना ही होगा। तुम्हारी संतान को (पेज-85) कैलाश वाजपेई, कुबेरदत्त जी तथा शुक्ल जी को बधाई।**— एम.डी.मिश्रा 'आनंद', टीकमगढ़।**

साक्षात्कार अंक 376 अप्रैल 2011 समय पर हस्तगत हुआ। बड़े दिनों बाद पत्रिका का प्रकाशन नियमित और नियत समय पर हो पाया है। संपादकीय परिवार को बधाई। हमेशा की तरह सर्वप्रथम पत्रिका का विचारोत्तेजक संपादकीय 'व्यक्ति और देश' पढ़ा। बड़े महत्त्वपूर्ण बिन्दु उठाए हैं आपने, यह सच है कि व्यक्ति और देश में कहने को तो देश बड़ा है, परंतु सिर्फ़ कहने तक, आज हम देख रहे हैं कि तनिक से स्वार्थ में हम अपने राष्ट्र को एक तरफ रख देते हैं। आपने राष्ट्र के सात बार हुए विभाजन की त्रासदी को सही रेखांकित किया है, जब राष्ट्र में भ्रष्ट राजनीति और पतित नौकरशाही के हाथों राष्ट्र का संचालन हो रहा हो ऐसे में कलम की धार से प्रहार के कुछ सकारात्मक परिणाम अवश्य आते हैं। महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय हेतु एक बार पुनः साधुवाद। 'बातचीत' के अंतर्गत वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. सुधेश से डॉ. जगन्नाथ पण्डित की बातचीत पाठकों को उनके समग्र व्यक्तित्व व कृतित्व से गहराई से परिचित करवाती है, जिससे हमें उनके सुदीर्घकालीन साहित्यानुभवों से बहुत कुछ सीखने समझने का अवसर मिलता है। 'कला (शक्ति) और विचार : भारतीय समकालीन संदर्भ, लेखक प्रो. राजाराम, लेख की जितनी प्रशंसा की जाए कम है, यह आलेख हमें विस्तार से चित्रकला के पारंपरिक पुरातन स्वरूप से वर्तमान आधुनिक स्वरूप के विभिन्न वस्तुओं की सूक्ष्मता से गहन पड़ताल करवाता है, इससे हमें हमारी कई जिज्ञासाओं के उत्तर भी मिलते हैं व नवीनतम जानकारियाँ भी।' 'परमार राजाभोज' लेख सुरेन्द्र सिंह पंवार इस बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी राजाभोज के बारे में अच्छी जानकारी देता है।**—घनश्याम मैथिल, भोपाल।**

साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल

दूरभाष 2554782, 2557942

वर्ष 2009 एवं 2010 में प्रकाशित श्रेष्ठ कृतियों पर पुरस्कार एवं पाण्डुलिपि प्रकाशन सहायता अनुदान योजना

परिषद् की पुरस्कार योजना के अन्तर्गत दो वर्षों के लिए 1 जनवरी 2009 से 31 दिसम्बर 2009 एवं 1 जनवरी 2010 से 31 दिसम्बर 2010 में प्रकाशित पुस्तकें आमंत्रित हैं, पुरस्कार और विषय इस प्रकार हैं -

(अ) अखिल भारतीय पुरस्कार — **प्रत्येक रु. 51,000/-**

1. माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार - निबंध
2. गजानन माधव मुक्तिबोध पुरस्कार - कहानी
3. वीरसिंह देव पुरस्कार - उपन्यास
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार - आलोचना
5. पं. भवानी प्रसाद मिश्र पुरस्कार - कविता

(अ) प्रादेशिक पुरस्कार — **प्रत्येक रु. 31,000/-**

1. पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' पुरस्कार - उपन्यास
2. सुभद्रा कुमारी चौहान पुरस्कार - कहानी
3. श्रीकृष्ण सरल पुरस्कार - कविता
4. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी पुरस्कार - आलोचना
5. हरिकृष्ण प्रेमी पुरस्कार - नाटक/एकांकी
6. राजेन्द्र अनुरागी पुरस्कार - व्यंग्य, ललित निबंध, आत्मकथा, संस्मरण आदि
7. दुष्यंत कुमार पुरस्कार - प्रदेश के लेखक की पहली कृति
8. ईसुरी पुरस्कार - लोकभाषा विषयक
9. जहूर बख्श पुरस्कार - बाल साहित्य

- प्रदेश के लेखक की पहली कृति के प्रकाशन के लिए प्रकाशन सहायता अनुदान देने की योजना के अंतर्गत पाण्डुलिपियाँ आमंत्रित हैं। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के रचनाकारों से भी पाण्डुलिपियाँ आमंत्रित हैं। कार्यालय में पाण्डुलिपि प्राप्त होने की अंतिम तिथि 31 जुलाई 2011 है। आवेदक को प्रदेश का लेखक होने तथा पहली कृति होने संबंधी घोषणा-पत्र देना आवश्यक है। पाण्डुलिपि प्रकाशन सहायता अनुदान के लिए लेखक की आयु 45 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए। आयु प्रमाण-पत्र आवश्यक है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के रचनाकारों के लिए आयु बंधन नही है, जाति प्रमाण-पत्र आवश्यक है। पाण्डुलिपि की एक प्रति आमंत्रित है। पाण्डुलिपि निदेशक, साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्ला रमूजी, संस्कृति भवन, बाणगंगा चौराहा, भोपाल-462003 के पते पर भेजी जाएँ।

पुरस्कार के नियम एवं शर्तें

- पुस्तकें 1 जनवरी 2009 से 31 दिसम्बर 2009 एवं 1 जनवरी 2010 से 31 दिसम्बर 2010 के बीच प्रकाशित हुई हों।
- प्रादेशिक पुरस्कार प्रदेश के लेखक के लिए ही हैं। प्रदेश के लेखक का अर्थ है–लेखक का जन्म मध्यप्रदेश में हुआ हो या दस वर्षों से प्रदेश में रहते हुए रचनाकर्म किया हो। आवश्यक होने पर लेखक तत्सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत करेंगे जिसे भेजना अनिवार्य होगा।
- कोई भी कृति केवल एक पुरस्कार के लिए ही भेजी जा सकती है।
- जो रचनाकार अकादमी के अखिल भारतीय पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुके हैं, उनकी कृति पर अगले पाँच साल तक विचार नहीं होगा। किन्तु जो रचनाकार प्रादेशिक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं, उनकी कृति पर केवल अखिल भारतीय पुरस्कार के लिए विचार किया जा सकेगा। संयुक्त वर्ष के पुरस्कारों के मामलों में अगले पाँच साल की गणना संयुक्त वर्षों के आखिरी वर्ष के आधार पर की जाएगी।
- प्रत्येक पुरस्कार के लिए पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, पूरा पता, प्रकाशन वर्ष, प्रेषक का नाम, हस्ताक्षर की पर्ची, टेलीफोन नम्बर, पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर चिपकाना आवश्यक है।
- भेजी गई पुस्तक पर लेखक/उत्तराधिकारी की सहमति अनिवार्य है।
- दुष्यंत कुमार पुरस्कार के लिए पहली कृति का घोषणा-पत्र लेखक को स्वयं देना होगा।
- पुरस्कार के लिए सिर्फ प्रकाशित पुस्तकें ही स्वीकार्य होंगी।
- अकादमी कार्यालय में पुस्तकें प्राप्त होने की अंतिम तिथि 31 जुलाई 2011 है। पुस्तकों के खो जाने या डाक की देरी के लिए अकादमी जिम्मेदार नहीं होगी।
- साहित्य अकादमी की आर्थिक सहायता से प्रकाशित पुस्तकें पुरस्कारों में शामिल नहीं की जा सकेंगी।
- प्रत्येक पुरस्कार के लिए पुस्तक की पाँच प्रतियाँ भेजनी होंगी। पैकेट पर पुरस्कार का नाम अवश्य लिखें। पुस्तकें निदेशक, साहित्य अकादमी, मधयप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्लारमूजी, संस्कृति भवन, बाणगंगा चौराहा, भोपाल-462003 के पते पर भेजें।
- पुरस्कार के सम्बन्ध में अकादमी का निर्णय अंतिम और मान्य होगा।

साहित्य अकादमी के प्रकाशन

<u>कविता</u>

वृक्ष की शिराओं में (द्वि.सं.)
प्रमोद त्रिवेदी 15.00

नरक को कभी शर्म नहीं आती
हरीश पाठक 15.00

कच्चे घर के लिए
राजकुमार कुम्भज 15.00

मैथिली मंगल
शुकलाल प्रसाद पाण्डेय 12.00

अंगारों की सदियाँ
गौरीशंकर लहरी 00.75

चयनिका
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' 20.00

खिड़कियों पर लगे काग़ज़
हरिशंकर अग्रवाल 15.00

जारी हैं लेकिन यात्राएँ
विनोद निगम 40.00

सिर्फ आँख भर रोशनी में
शशि निगम 40.00

एक तीली बची रहेगी
प्रतापराव कदम 35.00

जो कुछ भी घट रहा है दुनिया में
नासिर अहमद सिकंदर 30.00

काल चित्र
प्रयास जोशी 35.00

यहाँ इस शहर में
भानुप्रकाश 30.00

<u>नाटक</u>

चिंदी मास्टर
राजेश जैन 12.00

<u>कहानी</u>

उन्नीस साल का लड़का
शशांक 14.00

औपचारिक अन्तःकरण (द्वि.सं.)
राजेन्द्रकुमार मिश्र 12.00

सरेआम
हरीश पाठक 12.00

जंग
ए. असफल 40.00

जुमराती मियाँ
विनोद मिश्र 40.00

जो सहमत हैं सुने
यशवंत व्यास 30.00

<u>भाषण, आलेख, निबन्ध संग्रह</u>

प्रेमचन्द आज (व्याख्यान)
सं.डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय 15.00

भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (खंड 1)
सं. भागीरथ मिश्र 50.00

भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (खंड 2)
सं. डॉ. विनयमोहन शर्मा 70.00

पानी, पानी, पानी (निबन्ध)
कमला प्रसाद चौरसिया 15.00

निरंजनी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि
डॉ. सावित्री शुक्ल 50.00

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और तुलसीदास
डॉ. भगीरथ मिश्र 5.00

अनुष्टुप (पं. सूर्यनारायण व्यास का साहित्य)
सं. डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय 20.00

अक्षर अनन्य
सं. अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव 30.00

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
डॉ. हीरालाल जैन 60.00

रीवा राज्य का इतिहास
पं. गुरूरामप्यारे अग्निहोत्री 20.00

मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ
प्यारेलाल श्रीमाल 100.00

समय में कविता (रचना समीक्षा)
सं. प्रभाकर श्रोत्रिय 15.00

अन्वय
सं. प्रभाकर श्रोत्रिय 50.00

महाकवि केशव
डॉ. बृजेश द्विवेदी 15.00

भगवान महावीर का बुनियादी चिंतन (22 वाँ सं.)
डॉ. जयकुमार जलज 22.00

पं. बालकृष्ण शर्मा नवीन
प्रेम भारती 15.00

इक़बाल विमर्श
सं. पूर्णचन्द्र रथ 150.00

हमारा इक़बाल
सं. ममनून हसन खाँ 60.00

अल्लामा इक़बाल : बच्चों के लिए नज़्में
सं. फ़ज़ल ताबिश 15.00

निगाह
सं. पूर्णचन्द्र रथ 40.00

Sakshatkar/R.N. 30990/76

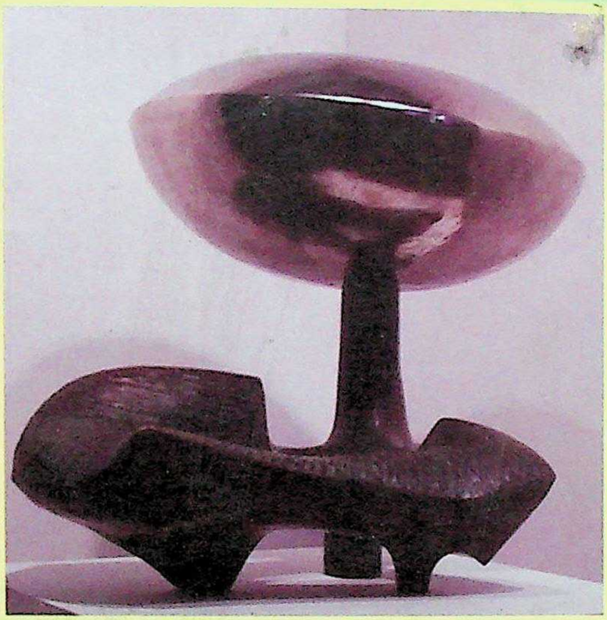

साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, बाणगंगा, भोपाल (म.प्र.)